

# सन्तुलन

(कला, साहित्य, कविता और गद्य पर समीक्षात्मक लेख)

लेखक

प्रभाकर माचवे

भूमिका-लेखक

विजयेन्द्र स्नातक

१९५४

आत्माराम एण्ड सन्स  
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता  
काश्मीरी गेट  
दिल्ली-६

प्रकाशक

रामलाल पुरा

आत्माराम एण्ड सन्स

काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

मूल्य

चार रुपये

मुद्रक

अमरजीतसिंह नलवा

सागर प्रेस

काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

## भूमिका

हिन्दी में आलोचना के नाम पर आज विपुल साहित्य प्रकाश में आ रहा है। पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाले समीक्षात्मक लेखों के अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप से शास्त्रीय सिद्धान्तों तथा कला-कृतियों की मीमांसा प्रस्तुत करने वाली छोटी-बड़ी पुस्तकों का भी अभाव नहीं है; किन्तु उनमें से कितना आलोचना-कोटि में आता है यह विचारणीय है। काव्यांगों या शास्त्रीय सिद्धान्तों का पर्यालोचन करने वाले मर्मि एवं सुघी आलोचकों की संख्या आज भी हिन्दी में इन्ती-गिनी है। गम्भीर अध्ययन की भित्ति पर प्रतिष्ठित लेखों के अभाव का मात्र कारण यही है कि बहुत कम लेखक अपना समय विदेशी साहित्य, संस्कृत तथा हिन्दीतर भाषाओं के अध्ययन में लगाते हैं। परिणाम में प्रचुर होने पर भी सीमा-मर्यादाओं में व्यापक और क्षमता-सामर्थ्य में परिपुष्ट समीक्षा-साहित्य आज भी हिन्दी में कम है। कोरे प्रभावों के आधार पर वाक्यावली पिरोने से या कलाकृत के वाक्य-खंडों को क्लेकर उनकी अर्थपरक व्याख्या करने से समीक्षा को आकार-प्रकार नहीं दिया जा सकता। समीक्षा स्वयं एक स्वतन्त्र रचना है—उसके मूल में सृजन की वही प्रेरणा है जो कविता या कहानी के मूल में रहती है। इस मौलिक सिद्धान्त की उपेक्षा कर देने से आलोचना-क्षेत्र में कोलाहल अधिक है, काम की बात कम। कुछ आलोचकों ने तो बौद्धिक प्रयोग के रूप में इसे स्वीकार कर लिया है और शास्त्रीय-व्यायाम की शैली से आलोचना का ताना-बाना बुनते रहते हैं। मैं समझता हूँ उन्हें अपनी सृजन-प्रेरणा के मूल उत्स पर एक बार दृष्टि-निक्षेप करना चाहिए। उनके भीतर 'अर्ज ऑफ़ एक्सप्रेसन' किस रूप में उत्पन्न होती है और क्या वे अभिव्यक्ति का समीचीन मार्ग पा सके हैं यह सोचना चाहिए।

मेरी अपनी सम्मति में कला और साहित्य का विवेचन केवल बौद्धिक आयास तक ही सीमित नहीं है। जिसे साहित्य-समीक्षा करने का अवसर मिला है वह जानता है कि समीक्षा के माध्यम से उसने किस प्रकार अपनी अभिव्यक्ति को नैसर्गिक वृत्ति को तुष्ट किया है। यदि समस्त मानवी क्रियाओं के मूल में मानव की अभिव्यक्ति की आकांक्षा को स्वीकार किया जाय तो साहित्य के सृजनात्मक (क्रियेतिव) अंगों की भाँति ही समीक्षा को भी अपने शुद्धरूप में नूतन सृजन ही समझा जायगा और उसके पीछे प्रेरणा की दृष्टि से वही मूल भावना उपलब्ध होगी जो 'स्व' की अभिव्यक्ति चाहती है। हृदय के आवेग-संवेग जिस प्रकार साहित्यिक कृति के मूल में रहते हैं वैसे ही उस कृति के समीक्षात्मक आकलन और मूल्यांकन में भी वे उपस्थित रहते हैं। विशुद्ध साहित्यिक कृति के लिए—चाहे वह रचनात्मक हो या

आलोचनात्मक—में समान रूप से उन सभी तत्त्वों की अनिवार्यता मानता हूँ जो अनुभूति, चिन्तन (अध्ययन, मनन) और कल्पना के आश्रित विकसित होकर रचना को आकार प्रदान करने में समर्थ होते हैं ।

‘सन्तुलन’ के लेखक श्री प्रभाकर माचवे के सामने उपर्युक्त तथ्य कितनी स्पष्टता के साथ रहा है और वे समीक्षक के रूप में कहाँ तक सफल हुए हैं यह निर्णय में पाठक पर छोड़ता हूँ । किन्तु मुझे यह स्वीकार करते हुए हर्ष है लेखक की तुला में एक ओर जहाँ अध्ययन, मनन और चिन्तन के बटखरे हैं वहाँ दूसरी ओर प्रतिपाद्य विषय-वस्तु को आकार-प्रकार देने के लिए उपयुक्त अनुभूति और कल्पना का सम्बल भी है । साहित्य के जिन विषयों का प्रतिपादन लेखक ने किया है उनकी रूप-रेखा तक ही सीमित न रहकर उनके आभ्यान्तर का पूरी क्षमता के साथ अवगाहन किया गया है । लेख की सीमा-मर्यादा के भीतर वस्तु का विश्लेषण करने में लेखक को उसके अध्ययन के बल पर अच्छी सफलता मिली है यह कहना लेखक की स्तुति नहीं है, और न लेखों में पाश्चात्य विचारकों के प्रभूत उद्धरणों से निजी अभिव्यक्ति आक्रान्त हो गई है—यह कहना लेखक की निन्दा है । सन्तुलित रहने के लिए स्वानुभूति के बल पर ही पर-चिन्तन को स्वीकार किया जाना चाहिए, यह तो लेखक महोदय भी मानेंगे ही । कला और साहित्य जैसे संवेद्य विषयों पर समीक्षा-परक शैली में लेख लिखते समय लेखक को जिस कोटि की योग्यता, सहृदयता और अभिव्यंजना-क्षमता चाहिए वह ‘सन्तुलन’ के लेखक के पास पर्याप्त मात्रा में है और यही कारण है कि वे आत्माभिव्यक्ति के साथ अध्ययन का बोझ भी सहज ही में वहन कर ले गये हैं ।

‘सन्तुलन’ के लेख तीन भागों में विभक्त हैं । पहला भाग ‘कला और साहित्य’ है जिसमें शास्त्रीय पद्धति के सात लेख संकलित हैं । द्वितीय भाग में ‘आधुनिक कविता’ से सम्बन्ध रखने वाले चार लेख हैं । तीसरे भाग में ‘आधुनिक गद्य की समस्याओं’ पर सात लेखों में विचार किया गया है ।

कला और साहित्य के अन्तर्गत जिन प्रश्नों पर विद्वान् लेखक ने विचार किया है वे कला के शाश्वत तथा सामयिक दोनों प्रकार के पहलुओं से सम्बन्ध रखते हैं । कला-समीक्षा की समस्याओं पर विचार करते समय लेखक ने कला की मौलिक स्थिति और उसके स्वरूप-विधान की तात्त्विक विवेचना की है । पाश्चात्य विद्वान् कैंट, हैगेल, क्रोचे, ब्रैडले, बोर्ज़ा आदि की विचारधारा को दृष्टि में रखते हुए लेखक ने अपना अभिमत बड़े सन्तुलन के साथ रखा है । इस लेख में पाश्चात्य लेखकों की विचारधारा पर जिस शैली से लेखक ने विचार किया है वैसा हिन्दी में कम ही देखने में आता है । चित्र-कला, वास्तु-कला और शिल्प-कला का साहित्य में क्या प्रयोजन है, और ये लेखित-कलाएँ किस प्रकार मानव की भावनाओं को परितुष्ट करती हैं,



# विषय-सूची

## प्रथम-भाग

### (कला और साहित्य)

विषय	पृष्ठ
१. कला-समीक्षा की कुछ समस्याएँ .. .	१
२. आधुनिक साहित्य और चित्रकला . . .	१३
३. वास्तु और शिल्प-कला . . .	१७
४. आधुनिक साहित्य और मनोविकृति . . .	२१
५. मार्क्सवाद और सौन्दर्यशास्त्र . . .	३७
६. औचित्य क्या ? . . .	४६
७. आलोचना रचनात्मक हो . . .	५७

## द्वितीय भाग

### (आधुनिक कविता)

१. मर्मों कवियों की विरह-व्यंजना . . .	६५
२. कविता और रहस्यवाद . . .	६८
३. छायावाद का भविष्य . . .	११०
४. नयी हिन्दी-कविता में छन्द-प्रयोग . . .	११३

## तृतीय भाग

### (आधुनिक गद्य)

१. हिन्दी गद्य की कुछ आवश्यकताएँ . . .	१२५
२. नाटक और आधुनिक समस्याएँ . . .	१३२
३. संस्कृत एकांकी के प्रकार . . .	१४१
४. हिन्दी में नाटकों की प्रगति . . .	१४६
५. भारतेन्दु के नाटकों में सामाजिक परिकल्पना . . .	१५१
६. उपन्यास में मनोविज्ञान . . .	१५८
७. कहानी-कला . . .	१८२

प्रथम भाग

कला और साहित्य

# सन्तुलन

१

## कला-समीक्षा की कुछ समस्याएँ

उक्ति प्रसिद्ध है—‘निरंकुशः कवयः’। ‘जहाँ न पहुँचे रवि वहाँ पहुँचे कवि’; यानी कवि सदा अँधेरे में रहता है या किसी काल्पनिक चन्द्र-प्रकाश में साँस लिया करता है, यह बात नहीं ! परन्तु तुलसीदास यह भी कह गये हैं—

तैसइ सुकवि-कवित बुध कहहीं,

उपजहिँ अनत, अनत छवि लहहीं ।

कवि-मानस कल्पनाप्रधान होकर, स्वतन्त्र विचरण करने पर भी एक विशेष मर्यादा तक ही उस स्वातन्त्र्य का उपभोग कर सकता है। कोई कवि समझ-बूझकर यह आप्रह्न नहीं कर सकता कि मेरी लिखी हुई अर्थशून्य पंक्तियों को पाठक कविता मानें ही। अतः प्रश्न वहाँ उपस्थित होता है जहाँ कवि या स्रष्टा तो कहता हो कि मेरी रचना अर्थवती है, वह जीवन के संस्पर्श से उपजी है और सचमुच कलाकृति है; परन्तु पाठक कहते हैं—यह रचना तो हमारी समझ में नहीं आती, इसमें तो कोई यथार्थता है ही नहीं, अतः यह कलाकृति ही नहीं। हिन्दी में अक्सर निराला जी की कविताएँ पढ़ते समय और प्रसाद जी की कामायनी और महादेवी जी की कई सम्मिश्र उत्प्रेक्षाओं को पढ़ते समय यह समस्या दरपेश रहती है। ऐसे समय दुर्बोध और सुबोध कविता या कलाकृति के बीच अच्छी-बुरी रचना का तारतम्य किस पर छोड़ा जाय ? समालोचक नामक तृतीय पुरुष को पंच मानकर फैसला कुरना भी कहीं-कहीं घातक हो जाता है—जब कि हमारे मान्य आलोचक-प्रवर पं० रामचन्द्र शुक्ल तक, चौबीसवें हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, इन्दौर के अपने साहित्य-परिषद् के अभिभाषण में कह गये हैं कि “इधर हमारी हिन्दी में काव्य-समीक्षा के प्रसङ्ग में ‘कला’ शब्द की बहुत अधिक उद्धरणी होने लगी है। मेरे देखने में तो हमारे काव्य-समीक्षा क्षेत्र से जितनी जल्दी यह शब्द निकले उतना ही अच्छा। इसका जड़ पकड़ना ठीक नहीं।” और “मैं फिर जोर के साथ मानता हूँ कि यदि काव्य के प्रकृत स्वरूप को रक्ष। इष्ट है तो उसका ‘पीछा’ इस ‘कला’ शब्द से जहाँ तक शीघ्र छुड़ाया जाय अच्छा है।” यह मैं मानता हूँ कि सब दुर्बोध कविताएँ एकदम नवीन होने के कारण अच्छी ही या बुरी ही नहीं होती;

उसी प्रकार मेरा विश्वास है कि सुबोध कविताएँ भी सब अच्छी ही होंगी यह आवश्यक नहीं है । इसीलिए समालोचकों के भरोसे रहना 'नीम-हकीम खतरा-ए-जान' हो जाता है । जिस प्रकार दो ज्योतिषी एक ही व्यक्ति के सम्बन्ध में दो परस्पर विरोधी भविष्य बताते हैं, वैसे ही एक ही रचना की दो परस्पर-विरोधी निष्पक्ष आलोचनाएँ हो सकती हैं । अतः समालोचकों को तो उन ज्योतिषियों की कक्षा में से एक मानना चाहिए, जो निकटतम जीवित व्यक्तियों के परिणाम की तो बात छोड़ देते हैं और दूरस्थित ग्रह-पिंडों और अशनि-खण्डों 'नेब्युले' की गति का मानवी नियति पर जो परिणाम हो उसकी खोज किया करते हैं । किन्तु आज आलोचना के मापदण्ड बदल रहे हैं । गस्टाव फ्लाबर्ट ने जॉर्ज सैण्ड को एक पत्र में, जो २ फरवरी, १८७६, ई० को लिखा गया था, कहा है—“प्राचीन आलोचक एक प्रकार का व्याकरणहीन होता था; वर्तमान आलोचक इतिहासकार हैं यथा संतर्भाव या मस्यू टेन; अभी भी हम उस भविष्य की ओर आशा से ध्यान लगाये बैठे हैं जब आलोचक स्वयम् कलाकार होगा और जब आलोचना रचनात्मक साहित्य का एक अंग होगी ।”

कवि निरंकुश चाहे लोगों की दृष्टि से हों; परन्तु उसे अंकुश उसकी अपनी मानसिक दशा तथा संस्कारों का है; साथ ही देश-काल-परिस्थिति का भी प्रभाव भुलाया नहीं जा सकता । यानी यदि समालोचना को शास्त्रीय युग के वैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ चलना है, तो उसे समाज-शास्त्र तथा मानस शास्त्र इन दो महत्त्वपूर्ण शास्त्रों से दृष्टि प्राप्त करनी ही चाहिए । समाज-विज्ञान के अन्तर्गत राजनीति, अर्थ-शास्त्र, नृ-विकास-विज्ञान और प्राणी-शास्त्र का समावेश होता है—तो मनोविज्ञान की सहायता से कवि अथवा कलाकार के आन्तरिक मनोविकारों का, चेतन और अर्द्धचेतन मनोवृत्तियों का विश्लेषण हमें मिल सकता है । यहाँ मैं कला-समीक्षा के विषय में समालोचक, कलाकार और रसिक, दर्शक या श्रोता के दृष्टिकोण से कुछ विचार विचाराथ प्रस्तुत करना चाहता हूँ । ये विचार प्रश्न रूप हैं । हल के सम्बन्ध में सुभाव अथवा अधिकार-वाणी से निर्णय तो इस निबन्ध के विवेकशील पाठक पर छोड़ दिये गये हैं । साथ ही मैं जब वैज्ञानिक दृष्टिकोण, और समाज का और व्यक्ति का मनोविश्लेषण करने वाली दो भिन्न विज्ञान-पद्धतियों का उल्लेख करता हूँ, तब आप कदापि यह गलतफ़हमी न कर लें कि विज्ञान विचार-प्रधान होकर भी कलात्मक भावपक्ष को कभी भुला नहीं सकता । न दोनों में कोई विरोध ही मैं पाता हूँ । कॉलरिज ने ठीक ही कहा था कि “गहरी भावनाओं से ही गहरा विचार निर्माण होता है ।” साथ ही मुझे इसका भी पूरा ह्याल है कि समाज-विज्ञान और मनोविज्ञान दोनों प्रयोगावस्था में, अतएव अनिर्णीत विज्ञान हैं । उनके निष्कर्ष को हम अन्तिम मानें ऐसी कोई बाध्यता नहीं है फिर भी उनकी पद्धति का अवलम्बन हमें कला-निर्माण

और कला-हेतु समझने में लाभदायक हो सकता है। समाज और व्यक्ति, समुद्र और लहरों की नाई एक-दूसरे में घुले-मिले हैं। उनमें 'प्रतीत्यसमुत्पाद' हम बुद्धि से क्यों निर्माण करें? अतः सामाजिक वृत्तियों से वैयक्तिक प्रवृत्तियाँ भिन्न नहीं की जा सकती। सामाजिक तथा वैयक्तिक जीव-विकास—आर्गेनिज्मस—के प्राण एक ही हैं, रूप-मात्र भिन्न हैं। कला के रूप और स्वरूप की चर्चा आगे होगी ही।

आज हमारे समीक्षा-क्षेत्र में कई भ्रान्त धारणाएँ फैली हुई हैं। यूरोप तक में एकाङ्गी और एकात्मिक सिद्धान्तों के कारण समीक्षा में कैसा निरर्थक वितण्डावाद खड़ा हुआ था इसका अन्दाजा हमें एक वाक्य से हो सकेगा। यह वाक्य छठी अन्तर्राष्ट्रीय दर्शन-परिषद् १९२६ के सौन्दर्य-विज्ञान-विभाग में पढ़े गये मिस्टर पार्कर के एक निबन्ध के अन्तिम अंश में है। वे कहते हैं—“इच्छापरिपूर्ति और स्वयंप्रेरित-ज्ञान यह दोनों एक दूसरे से विभिन्न मूल्य नहीं हैं; कला में दोनों साथ-ही-साथ रहते हैं, यूरोपीय सौन्दर्य-विज्ञान की समीक्षा-पद्धति का, जिसमें क्रोचे भी आ जाते हैं, यह प्रमुख दोष रहा है कि वह सदा एक या दूसरे पक्ष की उपेक्षा करता रहा है। क्रोचे ने स्वयंप्रेरित-ज्ञान के आग्रह में भावपक्ष को बिल्कुल भुला दिया, तो फ्रायड और दूसरे संवेदनवादी भावपक्ष के विचारकों ने क्रोचे के मत की ओर ध्यान ही नहीं दिया। हमें तो अगर पूछा जाय कि दोनों में तुम्हें क्या चाहिये तो प्लेटो के शब्दों में हम बच्चों के समान कहेंगे—हमें दोनों दो।”

वास्तव में शॉपनहॉर-नीत्शे की जो अन्ध-उर-स्फूर्ति [ब्लाइण्ड विल] वाली तत्त्वधारा यूरोप में चली उसी की प्रतिक्रिया में नध्य-आदर्शवादी, यथा बर्गस या क्रोचे, खड़े हुए—जैसे प्रथम पक्ष हेगेल-फ़िस्टे के अतिवादी अध्यात्म की प्रतिक्रिया में था। कला-समीक्षा की सुविधा के लिए यह निबन्ध पाश्चात्य आदर्शवादी दार्शनिक परम्परा; मनोवैज्ञानिकों की ओर से आने वाले आक्षेप और सूचनाएँ; और अन्त में, स्वयं कलाकार को क्या कहना है इन तीन भागों में बाँटा गया है।

२

कला-समीक्षा की आदर्शवादी दार्शनिक परम्परा में कैंट, हेगेल, क्रोचे, ब्रैड्ले, बोझां के और जॉन ड्यूई आदि प्रमुख नाम सामने आते हैं। कॉर्निगवुड के एक लेख का एक अवतरण भी संदर्भ में आयेगा।

कैंट के मत से रूप-सौन्दर्य न तो अनुकरण से आ सकता है, न वह कुछ सिखाता है, न वह कोई इच्छापूर्ति करता है न नैतिक सिद्धान्त-शिक्षण का अनुमोदन करता है। सौन्दर्य-ग्रहण में हमारा भावपक्ष एक प्रकार की लयमय क्रीड़ा में रममाण हो जाता है; जो क्रीड़ा किसी सिद्धान्त से परिचालित नहीं होती। वह तो स्वान्तः सुखाय होती है। यह लयमय क्रीड़ा, हम सतत चाहते हैं, केवल हमारी ही न रहकर

सब की हो जाय। अतः सौन्दर्य का मूल्य-निर्धारण एक ही बात कर सकती है कि वह सौन्दर्य सबके लिए सौन्दर्य हो। आगे चलकर कैंष्ट दो तरह के सौन्दर्य मानता है—एक तो मुक्त या स्वतन्त्र सौन्दर्य, दूसरा आबद्ध या परावलम्बी सौन्दर्य। इस दूसरे प्रकार के अन्तर्गत, किसी सिद्धान्त-विशेष की तृप्ति की खातिर की जाने वाली रचना—चाहे वह सिद्धान्त मार्क्स-प्रणीत हो या गान्धी प्रणीत—और अच्छे अनुकरण या अनुवाद वाली रचना का समावेश होता है। पहला सौन्दर्य मौलिक कला और युग-युगव्यापी साहित्य में अन्तर्हित है तो दूसरा सौन्दर्य फोटोग्राफिक या निरी हू-ब-हू चित्रण वाली कला में और युग-सीमित साहित्य में रहता है। कैंष्ट 'सुन्दर' और 'भव्य' या उदात्त के बीच में एक भेद पाता है। भावपक्ष जिसमें प्रधान हो वह सुन्दर; बुद्धिपक्ष जिसमें प्रधान हो वह भव्य। अतः सुन्दर है आत्मनिष्ठ, और भव्य निःस्व। यह भेद यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो ठीक नहीं। आगे चलकर उदात्त या भव्य के भी कैंष्ट दो प्रकार बतलाता है—एक तो स्थितिमय भव्यता, दूसरी गतिमय। यह गतिमय भव्यता ही थी जो आगे हेगेल को अपने सौन्दर्य-सिद्धान्तों में सहायक जान पड़ी।

हेगेल ने 'ललित कलाओं का दर्शन' नामक एक ग्रन्थ लिखा है। इसमें वह कला-सम्बन्धी दो प्रश्नों को लेकर चलता है जिनके उत्तर वह नकारात्मक देता है। वे प्रश्न यों हैं—

- (१) क्या कला वैज्ञानिक सर्भीक्षा के योग्य नहीं? और
- (२) क्या कला का दार्शनिक विश्लेषण भी संभव नहीं?

आगे चलकर वह सौन्दर्य और कला-सम्बन्धी विभिन्न वैज्ञानिक पद्धतियों का—यानी अनुभव-जन्य प्रत्यक्ष; आनुमानिक अप्रत्यक्ष; काल्पनिक विचारात्मक [एम्पीरिकल, ऐब्सट्रैक्ट, रीप्लेक्शन, नोशनल कन्सेप्ट ऑव ब्यूटी]—उल्लेख कर निम्न निष्कर्षों पर पहुँचता है—

(१) कलाकृति प्राकृतिक नहीं है। वह मनुष्य द्वारा मूर्त्त होती है। प्रकृति उसकी भित्ति चाहे हो।

(२) मनुष्य द्वारा निर्मित होने पर वह मनुष्य के लिए ही निर्मित होती है।

(३) कम-अधिक प्रमाण में वह इन्द्रियगोचर माध्यम में, इन्द्रियगोचर होने के लिए ही निर्मित होती है।

(४) कला की सीमा स्वयं उसका उद्देश्य है। वह निरुद्देश्य नहीं हो सकती।

इस प्रकार हेगेल के साथ कला-समीक्षा-क्षेत्र में कैंष्ट के भावपक्ष और बोध-पक्ष में निर्मित भेद कम होता है और कला को आदर्श के साथ जोड़ने का यत्न आरम्भ होता है। कला अनुकरण नहीं है, वह आदर्श-विशिष्ट की अनुगत मानवी

क्रिया है, यह धारणा हेगेल से आरम्भ हो जाती है।

हेगेल के बाद इसी विचार को नव्य-आदर्शवादी इटली के सौन्दर्य-वैज्ञानिक बनेडेट्टो क्रोचे अपने 'एस्थेटिक' में अधिक सुस्पष्ट करते हैं और कला में आन्तरिक 'अनुभव'—शाङ्करदर्शन में 'इन्द्रवीशन' के लिए यही शब्द प्रयुक्त है—की प्रधानता बताते हुए कला में उस अभिव्यञ्जनावाद की परिपुष्टि करते हैं, जिस पर नाना प्रकार के प्रहार और आक्षेप हुए। क्रोचे मानव-जाति में अभिव्यक्ति के लिए आतुर होने वाली एक वृत्ति (अर्ज टु एक्सप्रेस) समस्त मानवी क्रियाओं के मूल में मानते हैं। और इस वृत्ति को वे तर्कशील समझते हैं। उनके मत से यह अनुभूति-क्षण कला-क्षण है और वह तर्क-क्षण से भिन्न। तर्क-वृत्ति मनुष्य में बाद में है। व्यक्त करने की वृत्ति तो जन्मजात है। यह वृत्ति ऐसी है कि इसमें अनुभूति और अभिव्यक्ति एकप्राण है; वे भिन्न नहीं। यह अनुभव रहस्यवादियों वाला निरा साक्षात्कार नहीं है, और न व्यवहारवादियों का रीति-चमत्कार। यह अनुभव चैतन्य है; अन्ध और अचेतन नहीं। इस अनुभव की भित्ति हमारी संवेदनाएँ स्मिन्ध और निरन्तर-परिवर्तनशील चाहे हों, अनुभव अनिश्चित नहीं होता। पुरानी अभिव्यञ्जना को नयी अभिव्यञ्जना में परिणत होने से पहले इसी संवेदना की अवस्था में से गुजरना होता है। अतः केवल संवेदना यह अनुभव नहीं है। उदाहरण के लिए क्रोचे कहते हैं कि हम समझते हैं कि सुन्दर चित्र से हमें केवल आँख को सुख मिलता है। यह गलत है कि केवल आँख ही एक समय श्रम करती रहे। हमारा सुख या दुःख प्रतिक्षण हमारे पूरे चैतन्य व्यक्तित्व से, उसके संस्कार और आदतों से जुड़ा हुआ है। अतः हम चित्रित फल में भी ताजगी और माधुर्य की परिकल्पना व्यक्त करते हैं; संगीत में भी दर्द और हसवा की बात करते हैं; और कविता में भी 'चित्र-राग' का अनुभव करते हैं। कला में पलायन न होकर एक प्रकार की परितृप्ति होती है; चूँकि कलाकार का 'कु'-मन जो इतने समय तक क्रियाहीन था वह सक्रिय बनकर एक प्रकार का आत्मशुद्धि और स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार कलाकार में अत्यधिक वासनाएँ और अत्यधिक गाम्भीर्य, विकार और विचारों की एकसाथ तीक्ष्णता पायी जाती है। जो अत्यधिक गति में है वह स्थिर जान पड़ता है; जो मौन है वह अत्यधिक मुखरता का प्रमाण है। मैं आगे चलकर बताऊँगा कि क्रोचे के साथ हिन्दी में अन्याय हुआ है।

बर्गसाँ ने इसी अभिव्यक्ति की उत्कण्ठा का समाधान अपनी 'जीवन-शक्ति' के सिद्धान्त से किया। उनके 'हास्य' नामक निबन्ध में वे बालकों का हँसना उतना ही स्वाभाविक मानते हैं जितना वृक्ष के फूलों का फूलना। बर्गसाँ के साथ सौन्दर्य-दर्शन और प्राणीशास्त्र का समन्वय हमें प्राप्त होता है।

एक० एच० ब्रैडले के निबन्ध-संग्रह में पृष्ठ ६१८ से ६२७ पर साहित्य में यौन-विवरण को किस तरह लिया जाय इस प्रकरण में सौन्दर्य-विज्ञान सम्बन्धी एक और आदर्शवादी सिद्धान्त मिलता है जो केवल पावनता के लिए पावनता चाहने वाले पाक-परस्तों (प्यूरिटन्स) से भिन्न प्रकार का है। सौन्दर्य वैयक्तिक संवेदना से सदा ऊपर और अलग रहता है। सौन्दर्य मेरे अस्तित्व की शर्त बनकर नहीं रहता। सौन्दर्य वस्तुगत है। अतः व्यक्ति को अवकाश नहीं है कि वह वस्तुओं को अपने विकारों में लिपटा हुआ ग्रहण करे। यह तटस्थता प्रत्येक कलाकार के लिए आवश्यक है। चूँकि कला स्वरत्यात्मक [ सेरक इण्डलजेंट ] नहीं है। इस तटस्थता या अनासक्ति से एक प्रकार की रसदशा निर्माण होती है जो सच्ची साहित्यिक स्वतन्त्रता के मूल में रहनी चाहिए।

ब्रैडले के शिष्य बोजां के तो एक कदम आगे चलकर क्रोचे के कला-क्षण और तर्क-क्षण का भेद मिटाने की उद्यत है। अपने 'सौन्दर्य-विज्ञान के सिद्धान्त नामक अत्यन्त सुन्दर उपादेय पुस्तक में के एक जगह कहते हैं कि 'किसी तान की पूर्ति करने वाली आलाप, किसी नाद के साथ दूसरे नाद का इस तरह जुड़ना कि वह संस्कारी कानों को सन्तोष दे, किसी रङ्ग-सङ्गति के लिए जहरी रङ्ग-योजना, यह सब इतनी आवश्यक और इतनी बुद्धियुक्त प्रक्रियाएँ हैं कि जैसे तर्क में धारणाओं से एक निष्कर्ष निकालना।'

जॉन डचर्ड नामक सुविख्यात अमरीकन दार्शनिक की पुस्तक 'आर्ट ऐज एक्सपीरियन्स' इतनी विस्तृत और मार्मिक समीक्षा प्रस्तुत करती है कि उस पर तो स्वतन्त्र प्रबन्ध लिखना ही उचित होगा। परन्तु यहाँ उनके कुछ मुख्य-मुख्य विचार देता हूँ। दो प्रकार के भाव-जगत् में सौन्दर्यानुभूति असम्भव है—एक तो निरन्तर-परिवर्तन की अवस्था में, दूसरे किसी समाप्ति के या विनष्ट हो जाने के उपरान्त। सजीव प्राणी हवाई चीजों का निर्माण करता है; ऐसी हवाई कि जिससे कीट्स के शब्दों में सूर्य, चन्द्र, तारे आदि कवि-जगत् में विधाता की सृष्टि से कहीं भव्यतर और सुन्दरतम स्वरूप से अवतीर्ण होते हैं। कला हमारी प्रत्येक जीवन-घटना के अन्तराल में है। कला प्रकृति की पूर्ति करती है; क्योंकि वह प्रकृति को अर्थ प्रदान करती है। जीवन का अर्थ ही है संघर्ष—परिस्थिति और व्यक्ति के सतत-संघर्ष में कला भी एक त्रिया है। कोई भी भाव वस्तु-विहीन नहीं हो सकता, नहीं तो भाव न रहकर एक अभाव, एक भासमात्र ही हो जायगा, यथा शरमाना, सकुचाना आदि। प्रत्येक अभिव्यक्ति के मूल में 'एक प्रकार की प्रेरणा होती है। ग्रन्थ-प्रेरणा सोद्देश्य बनकर कला का रूप प्राप्त करती है। एबरक्रॉम्बी ने जिस तरह प्रेरणा या स्फूर्ति के दो प्रकार अपने 'काव्य-तत्त्व' नामक निबन्ध में किये हैं—एक स्फूर्ति या प्रेरणा तो वह जो



अभिव्यक्त होने में और होकर अपने आपका स्पष्टीकरण प्राप्त करती है; दूसरी वह स्फूर्ति या प्रेरणा जो स्वयं कविता बन जाती है—परन्तु जो स्फूर्ति या प्रेरणा स्व-पूर्त, स्व-सन्तुष्ट और स्व-सीमित (सेल्फ कन्टेण्ड और सेल्फ-सफ़ीशेण्ड) है वह कोई अभिव्यक्ति खोजने ही क्यों जाय ? यह प्रश्न ड्यूई को उसी तरह सताता है कि जैसे शङ्कराचार्य को बौद्धों का प्रश्न कि यदि ब्रह्म निरीह है तो उसने 'माया' निर्माण ही क्यों की ? शङ्कराचार्य जैसे 'लोकवस्तुलीलाकैवल्यम्' कहकर छूट गये, वैसे शिलर कला को क्रीड़ावृत्ति का समाधान कहकर टालना या उसका महत्व कम करना चाहता है; या बौहिंगर जैसे कहते हैं कि 'मानो' वह सत्य हो इस प्रकार के सत्याभास में आत्म-प्रलम्बन से (सेल्फ-प्रोजेक्शन इन ए वर्ल्ड ऑव मेकैबिलीफ़) कलाकार अपनी आत्म-तुष्टि कर लेता है ।

इस विषय में कॉलिंगवुड और विल ड्यूरेण्ट के नाम भी उल्लेखनीय हैं । पर वे मौलिक दार्शनिक न होकर विख्यात दर्शन-अध्येता हैं । उनमें से कॉलिंगवुड को कला के रूप और स्वरूप पर जो विचार 'जर्नल ऑव फिलॉसॉफिकल स्टडीज' के जुलाई १९२९ के अंक में पृष्ठ ३३२-४५ पर व्यक्त हुए हैं वे इसी सन्दर्भ में आवश्यक समझकर देता हूँ । टॉमस हार्डी जो कृषकों के चित्रण में असफल हैं, स्त्रियों के चित्रण में विख्यात हो जाता है; टर्नर जो जहाज के प्रत्येक भाग की रेखा-रेखा दिमाग से कैन्वस पर उतार सकता था, मानवी आकृति बनाते समय वह एकदम असफल हो जाता है । इसका क्या कारण है ? कलाकार दो तरह के होते हैं—एक तो वे जो अपनी कला-वस्तु के लिए मानो प्रतीक्ष्यमान हैं; दूसरे वे जो स्वयं जाकर कला-वस्तु को पकड़ लेते हैं । पहले रोमैंटिक कलाकार हैं, दूसरे क्लासिक । क्लासिक लकला में रूप की महत्ता है, रोमैंटिक में स्वरूप की । क्लासिकल कलाकार का 'कैसे' कहा जा रहा है इस पर जोर है तो रोमैंटिक का 'क्या' पर । मगर रोमैंटिक के खिलाफ़ विद्रोह करने से ही क्लासिकल नहीं हो जायगी ।

३

कला-समीक्षा सम्बन्ध में उत्पन्न होने वाली आलोचक की कठिनाई का कुछ समाधान दार्शनिकों की ओर से हुआ । मगर मनोवैज्ञानिकों से उसके सम्बन्ध में पूछताछ करने पर समस्या सुलभती नहीं और जटिल बनती जाती है । मनोवैज्ञानिकों की ओर से कला-समीक्षा के मानदण्ड-सम्बन्ध में तीन-चार प्रमुख उत्तर मिलते हैं :—

(१) फ्रायड आदि मनोविद्वेषकों के मत से कला का मूल स्वप्न, दिवस्वप्न आदि अर्द्धचेतन मानस के स्तर में पाया जाता है ।

(२) युङ्ग आदि के मत से यह केवल अर्द्धचेतन न होकर चेतन के साथ

उसके सम्बन्ध पर यानी एक प्रकार की संग्राहक समाधि से है ।

(३) सैकड़ों आदि के मत से कला का मूल आदिम-वृत्तियों के विकास और संस्कार से अन्तर्हित है, तो

(४) गेस्टाँल्ट-मनोवैज्ञानिकों के मत से कला का आदि-बिन्दु है एक प्रकार की मनस्तत्त्व की समग्र कलाओं का भटकना और लौट आना, फिर भटकना और फिर लौट आना । या हाँव के अनुसार उसे 'संश्लिष्ट सौंदर्य-बोध' (सिनेस्थीजिया) भी कह सकते हैं ।

फ्रायड का अतिमनिष्ठता पर अधिक जोर है । वह काम-वासना को प्रमुख धुरा मानकर उसके आसपास मनुष्य की ललित-कलाओं और अन्य प्रदर्शन की भावनाओं को बाँधना चाहता है । प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से वह काम-वासना के साथ ही कलावृत्ति को जोड़ देता है । यह एकान्तिक विचार अब प्रायः कई मनोवैज्ञानिकों को अमान्य है ; यद्यपि काम-वासना एक प्रबल प्रवृत्ति है जो मनुष्य के आचार-विचारो-च्चारों को आच्छन्न कर डालती है, यह हमें स्वीकार करना होगा । कला के मूल में स्वप्न-तत्त्व के पक्ष में कई उदाहरण दिये जाते हैं । बलजाक का वह अवतरण दिया जाता है जिसमें उसने कहा है कि उन श्रमिक स्त्री-पुरुषों के समूह में मुझे ऐसा लगा मानो मैं उनमें से एक हूँ ; मेरे पैरों में भी वैसे फटे जूते हैं, तन पर भी गंदे चीथड़े । या गेटे के आत्मचरित्र से और टंगोर की जीवन-स्मृति से ऐसे अंश दिये जा सकते हैं । हिन्दी की अधिकांश छायावादी कविता ऐसी ही स्वप्न-परिचालित है । हैवलॉक एलिस ने कहा है कि ये स्वप्न स्वप्नदृष्टा के व्यक्तित्व का पृथक्करण होते हैं ।

युङ्ग आदि के मत से स्वप्न से अधिक उस स्वप्न के आधेय, प्रतीक या संकेत माध्यम का महत्त्व है । उसी माध्यम के महत्त्व के आधार पर थॉरबर्न ने अपने 'कला और अचेतन मानस' में कलाकारों की 'संचयन और समाधि' (सेलेक्टिव मेडी-टेशन) कहा है । कलाकार किसी एक विशिष्ट वस्तु से ही क्यों प्राभावित होता है, अन्य से क्यों नहीं ? इसका उत्तर केवल स्वप्न-विश्लेषण न दे सकेगा । स्वप्न हमारे अर्द्धचेतन मानस स्तर से ऊपर आते हैं, जब मन का कुछ भाग खुला होता है या घुल-पिघल जाता है । मगर मन तो और भी गहरा है । अचेतन मन में कई संस्कारों ने जड़ पकड़ ली है । वे ही ऊपर उठते हैं । जेनेन्द्रकुमार के नये उपन्यास 'कल्याणी' में कल्याणी का 'जगन्नाथ का मन्दिर' ऐसे ही एक नारी के अचेतन स्तर के रूढ़ि से दबे मन का बड़ा मार्मिक उच्छवास है । या 'शेखर' में सीखियों में बन्द रहकर जुही के फूलों के साथ भटकने वाला शेखर की स्मृतिमालिका का चित्रण ! इसी कलाकारों के 'संचय और समाधि' की मराठी के सुविख्यात दार्शनिक-औपन्यासिक ने कई वर्ष पूर्व साहित्य-सम्मेलन के अध्यक्ष पद से 'सविकल्प समाधि' कहा था, जो योगियों के

‘निर्विकल्प समाधि’ से भिन्न है।

मैक्डगल कला में सामाजिक तत्त्व को प्रधान मानता है और व्यक्ति के विकास को गुंजाइश देता है। अतः उसके मत से हमारी आदिम-वृत्तियों के निरोध, और प्रतिक्रिया और प्रगति और उत्तोलन (सब्लिमेशन) में कला का विकास निहित है। आधुनिक प्रगतिशील आलोचक भी इसी वस्तुवादी पद्धति का अवलम्बन करते हैं। यद्यपि उनके समकालीनों के निर्णयों में कभी-कभी जल्दबाजी और अनावश्यक असहानुभूति का प्रवेश हो जाता है, यथा साहित्य-परिषद् के सभापति नन्ददुलारे वाजपेयी के भाषण में जैनेन्द्रकुमार के उपन्यासों पर आक्षेप या शिवदानसिंह जी की आधुनिक कविता की आलोचना में बालकृष्ण शर्मा ‘नवीन’ की रचनाओं को ध्वसवादी करार देना, या प्रकाशचन्द्र गुप्त का ‘महादेवी वर्मा’ या शांतिप्रिय द्विवेदी पर लेख प्रगतिशील आलोचना का नमूना मानना, आदि।

गेस्टाल्टपंथी मनोवैज्ञानिक यह मानकर चलते हैं कि हमारे अनुभव कभी भी जीवन के टुकड़ों के आंशिक चित्र न होकर समग्र जीवन का संश्लिष्ट संवेदनाएँ होती हैं। उनकी दृष्टि से कला-समीक्षा कभी भी विवरणात्मक न होकर, सामग्र्य को प्रधान लक्ष्य मानकर परिणाम (इफ़ेक्ट) की आलोचना होती है। जैसे सीजान नामक सुविख्यात फ़ोच चित्रकार ने एक जगह कहा है कि रचना और रंग दो भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं। दोनों एक साथ ही चित्रकार के मन में जाग्रत होती हैं। इस प्रकार की संश्लिष्टता हिन्दी-आलोचकों में कतिपय अपवाद छोड़कर कहाँ मिलती है। आन्ध्रे का एक अवतरण जो क्रोचे ने अपने ‘सुखवादी सौन्दर्यदृष्टि की आलोचना’ नामक अध्याय में दिया है, यहाँ आवश्यक है—“कला का सौन्दर्य, प्रथम-दर्शन से कल्पना को क्या कुरेद मिलती है इस पर अवलम्बित न रहकर उस कलाकृति के मूल में जो सौष्ठव रहता है, उस पर अवलम्बित है।”

मनोवैज्ञानिक आलोचनाओं का उपयोग बहुत सँभाल के साथ होना चाहिए। अन्यथा मनोविज्ञान के नये सिद्धान्त पक्षान्ध आलोचकों के हाथ में पड़कर कैसा विद्रूप नजारा प्रस्तुत कर सकते हैं इसके उदाहरण हिन्दी में ढूँढ़ने के लिए दूर नहीं जाना होगा। मैं नाम गिनाना नहीं चाहता, संस्कारी पाठक स्वयं ऐसी नित्य और अनित्य स्वरूप की आलोचनाओं में विवेक कर लेंगे। मनोविज्ञान ने आलोचना को यदि कुछ दिया है तो वह भावना, बुद्धि और संकल्प में तारतम्य-निर्माण है। उसे भूलकर आलोचना कुछ बना नहीं सकती है, या फिर भटक सकती है।

४

अब कलाकार-आलोचकों की ओर से पाँच-सात वाक्य में पेश करना चाहता हूँ, जिसके उपरान्त हिन्दी आलोचना-क्षेत्र में मची हुई धाँधली के कुछ कारण देकर

लेख समाप्त कहूँगा—

१. नीचो मानता था कि हमारी धर्म-संस्था, नीतिमत्ता, दर्शनशास्त्र सब अधो-गति की अवस्था में हैं। ऐसी स्थिति में एक ही उपाय-योजना है—‘कला’ !

२. इहसन का कथन है कि जीने का अर्थ है उन देवियों से सतत युद्ध जो हमारे मन और बुद्धि को आच्छन्न कर डालते हैं; और लेखन का अर्थ है खुद को बुलाना और कहना कि इस लड़ाई में निर्णायक का काम करो।

३. अनातोल फ्रान्स कहते थे कि उनकी एक किताब में इतने उपन्यास हैं जितने कि पाठक—प्रत्येक व्यक्ति के अनुसार उनकी पुस्तक का परिणाम भिन्न रहता है।

४. पॉल वेलेरी ने अपने पात्र के मुँह से कहलवाया है—कला मात्र हृदि-निर्भर है। कलाकार तो वहाँ से आरम्भ करता है जहाँ परमात्मा भी रुक जाते हैं।

५. कॉलरिज का यह मत भी हमें ध्यान में रखना चाहिए कि सच्ची कलाकृति तो वह है जिसमें पाठक निरी यान्त्रिक प्रक्रिया से या मंजिल के कुतूहल से परिचालित होकर न चले बरन् स्वना के रसग्रहण की यात्रा में पग-पग पर वह आनन्दास्वाद लेता चले।

६. क्लाइव बेल अपनी ‘कला’ नामक पुस्तक में कहते हैं कि समाज कलाकार को प्रत्यक्ष रूप से, अतः कला को अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है। विश्व के सब कलावंत याचक बनें, क्योंकि कला और धर्म को पेशा नहीं बनाया जा सकता। पेशा बनाकर उन्हें नष्ट अवश्य किया जा सकता है। सच्चे कलाकार कला को पेशा इसलिए नहीं बनाते कि वे रचना करने के लिए जीते हैं, जीने के लिए रचना नहीं करते।

७. थॉल्डूस हक्सले ने अपने ‘वर्ड्स्वर्थ यदि उल्लूक-कटिबन्ध में होते तो’ नामक निबन्ध में ‘काव्य और भोग परस्पर विपरीत वस्तुएँ हैं’ ऐसा मानने वाले पाकपरस्त आलोचकों को बड़ी अच्छी प्रतिक्रिया सुनायी है—ब्लेक कवि ने मिल्टन के विषय में कहा था कि वह कवि न होकर अनजान रूप से शैतान का साथी है। प्रत्येक मनुष्य में ऐसा गरीब शैतान रहता है जिसको सब ओर से सहायता और अनुमोदन की आवश्यकता होती है। कलाकार इस शैतान का स्वाभाविक प्रतिपादक है। मुझे उस टॉल्स्टॉय पर दया आती है जो केवल उपदेशक बना रहा।

८. जर्मन कवि गेटे ने कवियों में दो तरह के साहित्य-विलासी (डिलेताँते) माने हैं—एक तो वे जो काव्यात्मा व्यक्त हो जाय इतना ही काफ़ी समझते हैं और काव्यरूप की उपेक्षा करते हैं; दूसरे वे जो काव्यरूप की बारीकियों में यानी प्रास-अलंकारादि में उलझकर काव्यात्मा की हत्या करते हैं। दोनों की कला असफल है।

६. निराला जी की कविता को दुर्बोध मानने वाले पाठक से मैंने शुरू किया था, उसे मैं शौचिनहार का यह वाक्य भेंट करना चाहता हूँ—जब एक पुस्तक और एक दिमाग एक दूसरे से टकराते हैं, और दोनों में से किसी एक से खोखलेपन की आवाज आती है, तब क्या यह जरूरी है कि वह वह किताब ही हो, निग्यानवे प्रतिज्ञात उदाहरणों में वह पाठक का दिमाग ही होता है।

हिन्दी में सौन्दर्य-विज्ञान सम्बन्ध में और कला-समीक्षा के सम्बन्ध में गम्भीर आलोचनाओं की ओर जितना चाहिए उतना ध्यान नहीं दिया गया है। स्व० पण्डित रामचन्द्र शुक्ल, लक्ष्मीनारायण सिंह 'सुधांशु' आदि कुछ आलोचकों को छोड़कर अन्य किसी ने इस विषय को छुआ नहीं है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल बहुत बड़े आलोचक थे, वे समालोचकों के भी समालोचक थे; पर क्रोचे के साथ इन्दौर वाले अपने भाषण में और 'साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद' नामक द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ वाले अपने निबन्ध में वे अन्याय कर गये, यह आलोचना के एक निष्पक्ष इतिहासकार को मानना ही होगा। आई० ए० रिचर्ड्स को अधिक महत्त्व देकर, काव्य में लोकपक्ष और मंगल-भावना के व्यक्तीकरण के आग्रह में संवेदनावादियों, मूर्त-विधानवादियों आदि के प्रयोगों को उन्होंने बिलकुल नगण्य कर डाला था। 'कला के लिए कला' वाली बात को जोरों होकर मरे बहुत दिन हुए। एक बया अनेक क्रोचे उसे फिर जिला नहीं सकते। और 'वास्तविक स्थिति की अनुभूति एक बात है, अभिव्यजना दूसरी बात' (पृ० ८६) आदि इन्दौर वाले भाषण में उनके कई वाक्य हैं जो क्रोचे को ठीक से व्यक्त नहीं करते। मुझे इस प्रकार स्वर्गीय आचार्य के पाण्डित्य या आलोचना-शक्ति में तिलमात्र भी सन्देह या शंका नहीं करना है। केवल यही कहना है कि जब इतने बड़े आलोचक तक में कहीं-कहीं एकांगीपन आ जाता था, तब अन्य आलोचकों का तो कहना ही क्या ! किसी भी आलोचक को, चाहे वह वैज्ञानिक हो अथवा कलाकार, अपने आपको अन्तिम निर्णायक नहीं मानना चाहिए। संक्षेप में हिन्दी में कला-समीक्षा में मैंने, अपने आलोचकों में निम्न अभाव पाये हैं, जिन्हें संक्षेप में गहराई का अभाव और ऊँचाई का अभाव कह सकते हैं। गहराई के अभाव के अन्तर्गत आलोच्य कलावस्तु के अन्तर्गत में प्रवेश करने वाले गहरे अध्ययन और सहानुभूति का एक साथ न रहना, जल्दबाजी और एकांगीणता (प्रगतिशील आलोचकों में से भी कुछ इसी एकांगीणता के शिकार हैं) आदि दोष आ जाते हैं। ऊँचाई के अभाव में किसी आदर्श नीति-मूल्यों की भित्ति का आलोचकों में अभाव, रुचि का सस्तापन यानी संस्कारिता का अभाव, और सबसे घोर दोष जो आ जाता है वह है आलोचकों में प्रामाणिकता का अभाव। वह आलोचना बन्ध्या है जो विचार-आचार-उच्चार में एकता उत्पन्न न कर सके और जो उस एकता से न उत्पन्न हुई हो।

अन्त में, आधुनिक कला-प्रयोगों के प्रति और कलाकारों के प्रति समालोचकों को अधिक सहिष्णु होने की प्रार्थना करते हुए मैं आई० जी० कैम्पबेल के 'ऑब्जेक्टिव फॉर्म एण्ड इट्स रोल इन एस्थेटिक्स' का एक वाक्य देना चाहता हूँ—“नवीन युग के साथ आधुनिक कलाकारों को नवीन दृष्टि प्राप्त होती है और उस नवीन दृष्टि से वह नये रूप-विधान प्रस्तुत करता है। यह रूप-विधान वह केवल नवीनता के लिए नहीं निर्माण करता बल्कि वह उसकी नयी दृष्टि का परिणाम है।”

“ए परफेक्ट जज विल रीड ईच वर्क ऑव विट  
‘विद द सेम स्पिरिट ऐज इट्स आथर रिट।”

—पोप

## आधुनिक साहित्य और चित्रकला

चीन की चित्र-लिपि और हमारे यहाँ के प्राचीन काकु और चित्र-बन्ध काव्यों अथवा सचित्र पोथियों तक ही साहित्य और चित्रकला का सम्बन्ध नहीं रहा है। कई प्रसिद्ध कवि चित्रकार रहे हैं, यथा विलियम ब्लेक और रौजेंटी, और लियोनार्दो दा विंची-जैसे श्रेष्ठ चित्रकारों ने इतालवी भाषा में सुनीत (सॉनेट) लिखे हैं। हमारे यहाँ इन दो कलाओं में, यानी लेखन-कला और साहित्य-कला में इतना अधिक सामञ्जस्य मध्य युग में कम रहा है। यद्यपि प्राचीन-काल में शिल्प-शास्त्र में इन्द्रिय-संवेद्य अनुभवों की मौलिक एकता मानी जाती थी; 'श्रवणं दर्शनं चैव स्पर्शनं घ्राणमेव च। एवं चतुर्विधं प्राहुर्विज्ञानं शिल्प-वेदिनः॥' वस्तुतः आज के मनोवैज्ञानिक भी मानते हैं कि हमारी अनुभूति एक समग्र (गेस्टाल्ट) वस्तु है। अतः उसकी अभिव्यक्ति के माध्यम पात्र भिन्न होने से, उसमें की विषय-वस्तु भिन्न नहीं हो जाती।

परन्तु माध्यमों में यांत्रिक विकास होने के साथ ही हमारे कला-विषयक आलोचनात्मक मानों में परिवर्तन अवश्यम्भावी रूप से घटित हुआ है। आदि-मानव के गुहा-चित्र, अथवा बाग-अर्जन्ता के भित्ति-चित्र तथा मध्य-युगीन मुसविरी के बाद आज की अत्याधुनिक कला के युग तक मनुष्य की सभ्यता ने कितनी प्रगति की है! स्पष्ट है कि हमारा कला-विषयक दृष्टिकोण भी वही नहीं रहा है, जैसे कि कलाकार की सूक्ष्म भावना और स्थूल तूलिका (अथवा लेखनी) वही नहीं रही है।

विशेषतः यथार्थ-चित्रण में यह भेद और भी स्पष्ट हो उठा है। कमरे की शोध और प्रचलन के बाद चित्रकला में यथार्थ के प्रति हमारी दृष्टि में आमूल परिवर्तन हो गया है। पहले फोटोग्राफ़ जैसे यथार्थवाद पर जोर था, स्त्री-पुरुष मांसल, उनकी त्वचा के रंग स्निग्ध और प्राकृतिक दृश्य भी यथावत् बनाने की ओर विशेष परिश्रम किया जाता था परन्तु जो काम यन्त्र एक सेकण्ड-खण्ड में घटित कर देता है, और अधिक अच्छी तरह करता है; उसके लिए मानुषी शक्तियों का अपव्यय क्यों? अतः चित्रकार अब वह चित्रित करने लगा जो कि उसके मन पर बिम्बित होता था। शिल्प-शास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली में वह चित्राभास से चित्र-लेखन की ओर बढ़ा, और अब चित्र-लेखन से भी अधिक सांकेतिक अथवा प्रतीकात्मक चित्र-लिपि की ओर आ रहा है। यानी अब उसके रेखा और वर्ण स्वतन्त्र रेखा और वर्ण-मात्र न

रहकर, किसी अमूर्त, अचेतन भाव के संकेत होते हैं।

प्राचीन काल के चित्रों में प्राकृतिक दृश्यांकन और मानवी चित्रांकन के स्पष्ट भेद किये गये थे। किसी दृश्य के भागों का परस्पर प्रमाण, उनमें आकाश-धरती का स्थान, यथार्थता, दूर की और पास की चीजों का सापेक्ष आकार-प्रक्षेपण आवश्यक था।<sup>१</sup> और सचेतन चित्रों में स्वभावानुसार चर्या, उनमें विभिन्न अनुभवों की भाषा, शरीर की रचना, उसकी विभिन्न मुद्राएँ, रंग-संगति आदि छः गुण आचार्यों ने बताये हैं।<sup>२</sup> इस प्रकार की हमारी प्राचीन चित्रकला की जो प्रतिकृतियाँ विदेशों में गई उनका रेम्ब्राँ जैसे विदेशी चित्रकारों के रेखांकन पर भी प्रभाव पड़ा है, ऐसा हूबेल का मत है।

यह सब प्राचीन भारतीय चित्रकला विषयक चर्चा आधुनिक कला और साहित्य के सम्बन्ध और उसके भविष्य के लिए आवश्यक थी। समाज-विज्ञान से साधारणतः परिचित कोई भी व्यक्ति यह मानने को तैयार नहीं होगा कि मनुष्य-स्वभाव इतने हजार वर्षों में एक-सा रहा है। यह असम्भव है। आधुनिक यन्त्र-युग में आकर मानव-व्यक्ति और मानव-समूह की मानसिक दृश्य-पटियाँ बहुत भिन्न संघर्षमयी और द्वन्द्वपूर्ण हो गई हैं। इस घटना का प्रभाव हमारी कलाभिव्यक्ति पर भी पड़े बिना नहीं रह सका है। पाब्लो पिकैसो की कला इसका एक सफल उदाहरण है। उसके चित्रों में जो असंगति, दुरुहता, विलक्षणता जान पड़ती है वह उसने अर्जित की है। ब्रह्म बुद्धि-पुरस्सर है, परन्तु पिकैसो की नकल पर हमारे कई चित्रकार और शिल्पी एक हलकी-सी अर्थहीनता को कला में अद्भुत प्रयोग मानकर या तो पुराने ग्राम-पटों

१. स्थानं प्रमाणं भू लंबो मधुरत्वं विभक्तता ।

सादृश्यं क्षयवृद्धि च गुणाष्टकमिदं स्मृतम् ॥

स्थानहीनं गतरसं शून्यदृष्टि मलीमसम् ।

चेतनारहितं वा यत्तद्यस्तं प्रकीर्तितम् ॥

तरंगाग्नि शिखाधूमं वैजयन्त्यंबरादिकम् ।

वायुगत्या लिखेद्यस्तु विज्ञेयः स तु चित्रविद् ॥

२. सुप्तं च चेतनायुक्तं मृतं चैतन्यवर्जितम् ।

निम्नोन्नतविभागं च यः करोति स चित्रविद् ॥

रूपभेदाः प्रमाणानि भावं लावण्यमेव च ।

सादृश्यं वर्णिकाभंगं इतिचित्र षडंगकम् ॥

रेखां प्रशंसन्ति आचार्याः वर्तनां च विचक्षणैः ।

स्त्रियाभूषणमिच्छन्ति वप्यादिद्यमितरेजनाः ॥



की पुनरावृत्ति कर रहे हैं या इस भूमि से सर्वथा भिन्न प्रकार के वायवी, आकाश बेल-जैसे चित्र बना रहे हैं जिनका भविष्य शून्य है।

चित्रकला में (और साहित्य में भी) सामाजिक आशय वर्णविध होकर सर्वसाधारण को प्रिय बन सकता है। परन्तु वह विज्ञापन-चित्रकला, या पोस्टर-मात्र है। पोस्टर का अपना मूल्य होता है। वह लोक-कला भी हो सकती है; परन्तु आलोचना के हमारे मान पोस्टर जैसे स्थूल मान नहीं हो सकते। जिन लोगों ने ऐसे भद्दे मानों का आश्रय लिया है, वे फूहड़ समाज-शास्त्रीयता की प्रतीति कर बैठे हैं। कला में सामाजिक आशय वैयक्तिक अनुभूति की प्रगाढ़ता में पकड़ बनकर ही व्यक्त होता है। अन्यथा वह प्रभावहीन होकर रहेगा। तोता-रटन्त या अनुकरण-कला की व्यंजना का सबसे बड़ा शत्रु है। चाहे आज के जमाने में कला-मात्र को 'अनुकरण'-मात्र माना जाता रहा हो।

परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि कोई भी प्रत्यक्ष कला (चाहे चित्र या शिल्प या साहित्य) इतनी वैयक्तिक हो जाय कि वह अपनी प्रेषणीयता खो बैठे। अत्याधुनिक कला में यही खतरा प्रधान हो उठा है। स्पष्ट है कि मेरे दुःख-दर्द पूर्णतः आपके नहीं हो सकते। परन्तु फिर भी मेरे आपके सबके ऐसे दुःख-दर्द जरूर हैं कि जिनका समाधान कला के माध्यम से, अपेक्षित है। फिर कुछ ऐसे भी अस्तित्ववादी मिल सकते हैं जो पूछें कि कला का कार्य रोग-चिकित्सा और रोग-निदान भी क्यों हो? यदि युग रोग-ग्रस्त है, तो कलाकार उससे बचकर निरे स्वास्थ्य-लोक के सपने-जैसे नहीं ले सकता, तो उस रोग के शिकार की भाँति घुल-घुलकर मर मिटने की तसवीर क्यों न सामने रखे। निवेदन है कि इस तरह की तसवीर किसी की मदद नहीं कर सकती, स्वयं कलाकार की भी नहीं। अतः कला में अनिवार्यतः विकृतियों के अंकन नहीं, परन्तु उसके परिमार्जन की अपेक्षा है। सुररियलिज्म (अतिथार्थवाद) आदि रूपा, विकृति-प्रधान अभिव्यंजनाओं की प्रवृत्तियाँ आधुनिक साहित्य और कला में पाई जाती हैं। परन्तु सच्ची सामाजिक यथार्थता इनसे परे किसी संहित भावी को भी देखती है।

यों मेरे निकट मानव की सौन्दर्य-बोध और आनन्द-शोध की मूल प्रवृत्ति सर्वत्र एक-सी होने के कारण चित्रकला में अभिव्यक्त एक प्रकार की आलोचना और साहित्य में दूसरे प्रकार की आलोचना-दृष्टि नहीं हो सकती। हम एक ओर पिकासो और जामिनी राय को तो मानें; परन्तु साहित्य में प्रयोगवाद की खिल्ली उड़ायें यह कुछ कम समझ में आने वाली बात है। समाज और व्यक्ति के अन्तःसंघर्ष के कई रूप होते हैं—एक तो बाह्य, स्थूल द्वन्द्व है जिसे वर्ग-विभेद के नाते मार्क्सवादी आलोचकों ने बहुत स्पष्टतः सामने रखा है। परन्तु कलाकार यदि अधिक संवेदनशील और सूक्ष्मचेता

हुआ तो उसके मन पर पड़ने वाले प्रभावों की हम उपेक्षा नहीं कर सकते । अन्तर्द्वन्द्व बाह्यसंघर्ष का एक अनिवार्य परिणाम भी हो सकता है । अतः आलोचक के लिए दृष्टव्य यह है कि वह अभिव्यंजना कहाँ तक हमें प्रगति की ओर यानी अधिकाधिक सामाजिक कल्याण और वैयक्तिक मुक्ति की ओर ले जाती है ।

## वास्तु और शिल्प-कला

स्थूल ललित-कलाओं में चित्र-कला से निकट की कलाएँ हैं शिल्प-कला और स्थापत्य । शिल्प के अन्तर्गत भास्कर्य, पूर्ण या अर्द्ध-उत्कीर्ण मूर्ति-निर्माण जैसे आ जाते हैं वैसे ही शिल्प-शास्त्र शब्द प्राचीन काल में बहुत व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जैसे मालविकाग्निमित्र में 'पात्रविशेषन्यस्तंगुणांतरं व्रजति शिल्पमाधातुः' कहा गया है ।

शिल्प के बहुत विशाल और सुन्दर नमूने प्राचीन ऐतिहासिक मन्दिरों में मिलते हैं । श्वरगबेलगुली या बरवानी के पास की जैन विराट्-मूर्तियों के साथ ही सुन्दर प्रस्तर-शिल्प के उदाहरण एलुरा, भरहुत, कौशाम्बी, साँची, अमरावती और भीटा में प्राप्त मूर्तियों में मिलते हैं । जगन्नाथ पुरी और कोणार्क के मन्दिरों की भाँति चाँदा जिले में सादली ग्राम के निकट ब्राह्मणगंगा पर मार्कण्डेय मन्दिर का शिल्प भी मेरी स्मृति पर सदा के लिए अंकित है । वैसे इन पंक्तियों के लेखक ने कई महीने कलकत्ता, मथुरा, सारनाथ, प्रयाग, बड़ौदा और दिल्ली के प्राचीन शिल्प-संग्रहालयों के सूक्ष्म अध्ययन में और उनकी प्रतिकृतियों के अंकन में बिताए हैं । 'प्रतिमा'-मासिक (कानपुर) के द्वितीयक में 'प्राचीन भारतीय शिल्प में पशु-पक्षी' नामक सचित्र लेख तथा विक्रम-द्विसहस्राब्दी-ग्रन्थ में उज्जयिनी के मन्दिरों से शिल्प तथा वास्तु के कई चित्र (जो बिना मेरे नामोल्लेख के लेखों के शीर्ष-चित्र तथा पुच्छ-चित्र के नाते प्रयुक्त हुए हैं) इसके साक्षी हैं । 'कला-निधि' के लिए भी मेरे कई मूर्ति-चित्र अभी अप्रकाशित हैं ।

पाश्चात्य शिल्प-कला के विकास का, विशेषतः यूनानी और इतालवी शिल्प-कारों की—यथा माइकेल एंजलों और एपोनियस आदि की महान् शिल्प-कृतियों के चित्रों का भी अध्ययन मैंने किया है । और उत्तरोत्तर मध्य युग में, गिरजों के अलंकरण में या राजा या सामन्तों के अश्वारूढ़ या अन्य प्रकार की व्यक्ति मूर्तियों में से होते हुए आधुनिक शिल्प-कला रोमाँ, एपस्टाइन और हेनरी मूर के युग तक कैसे विकसित हुई है, यह पूरा इतिहास कम मनोरंजक नहीं । तभी यूनानी अस्थि-पात्र पर अंकित मूर्तियों से प्रभावित होकर कीट्स ने 'ओड' लिखा और प्री-राफेलाइट दल में एक कवि स्वयं शिल्पी था । हमारे यहाँ ऐसे उदाहरण कम हैं जो स्वयं साहित्य-सृष्टा या कवि हों, और साथ ही शिल्पज्ञ भी । भारत में जो शिल्प इतना सुविकसित था कि त्रिमूर्ति और नटराज और तारा की भव्य और सुन्दर प्रस्तर, कांस्य और मिट्टी की मूर्तियाँ ग्यारहवीं-

बारहवीं सदी तक मिलती हैं, वह मध्ययुग में निर्जीव अनुकरण में पड़कर नष्ट-प्राय हो गया। उसका आधुनिक विकसित पश्चिम-प्रभावित रूप कुछ गिने-चुने नामों में ही प्राप्त होता है, जैसे महाराष्ट्र में म्हात्रे, २० कृ० फडके, करमरकर, बाकरे आदि बंगाल में देवीप्रसाद रायचौधरी, सुधीर खास्तगीर, रामकिंकर, प्रदोषदास गुप्त आदि। भारत में यह कला अभी पर्याप्त मात्रा में विकसित नहीं हुई है।

शिल्प से अधिक निकट की परन्तु साहित्य से उतनी ही दूर कला स्थापत्य या वास्तु है। हिन्दी में वास्तु-कला पर बहुत कम ग्रन्थ है। परन्तु स्थापत्य अपने-आप में एक बहुत मनोरंजक अध्ययन का विषय है। मैंने 'गुम्बद का विकास' नामक एक सचित्र लेख 'सम्पूर्णानन्द-अभिनन्दन-ग्रन्थ' में दिया है। उसके साथ ही विदेशी तथा देशी वास्तु के कला-रूपों का विशेष रूप से अध्ययन करने के बाद मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि साहित्य को यदि केवल डाइंग-रूम तक ही सीमित नहीं रहना है, तो इन सभी गृह-निर्माण-विषयक सौन्दर्य-धन-उपयुक्ततावादी दृष्टियों का साहित्यिक के निकट बहुत अर्थ होना चाहिए। फूस की भोंपड़ियों का, गँवई बच्चे मकानों का और एक-सी सौन्दर्य-हीन चालों का वर्णन करना आसान है; परन्तु मध्ययुगीन ऐतिहासिक 'बाड़ों' के या महलों के वर्णन देना सहज नहीं। और तो और बौद्धकालीन उपन्यासों में विहारों, चैत्यों और संघारामों के वर्णन में भूलें इस अध्ययन के अभाव के कारण घटित हुई हैं।

सौन्दर्य-शास्त्र की दृष्टि से शिल्प और स्थापत्य में प्रयुक्त द्रव्य उनकी शैली को और प्रभाव को भी निर्णीत करता है। संगमरमर का ताज और लाल पत्थरों की सीकरी को आप अन्यथा नहीं सोच सकते। रामकिंकर के संथाली परिवार में कंकरीट के माध्यम की नियोजना अर्थशून्य नहीं है। जिस प्रकार प्राचीन मूर्तियों में देवताओं की आँखें अम्लान रजत धातु की बनाते थे, उसी प्रकार आधुनिक शिल्प में भी अन्य द्रव्य का प्रयोग या 'सेटिंग' (जैसे हेनरी मूर के शिल्प में) बहुत मानी रखता है। प्राचीन यक्षिणियों, प्रसाधिकाओं या अप्सराओं के चित्रण में कुछ अतिरंजन मिलता है, परन्तु आधुनिक युग के रोषों को भी अपने 'चलते हुए मनुष्य' के धड़ या चित्तक के सप्तधातु-शिल्प में अतिरंजन काम में लाना पड़ा है।

शिल्प की या स्थापत्य की दूसरी महत्वपूर्ण बात है 'मासेज' या आकाश को भरने वाले द्रव्यमान की संयोजना। आधुनिक शिल्प तो अधिकाधिक इसी पर आश्रित हो गया है। साहित्य में भी 'आकाश-पूर्ति' की समस्या होती है। विशेषतः प्रतीकात्मक रूप से चरित्र-चित्रण या व्यक्तित्व के प्रस्तुतीकरण में उसकी बहुत सार्थकता है। शिल्प के द्रव्य जिस प्रकार से मिट्टी, पत्थर, काठ, धातु, काँस्य आदि हैं; साहित्य के भी द्रव्य शब्दार्थ हैं और उनके नवनवीन अभिधेय तथा उनमें प्रयुक्त परिमाण-व्यंजना

बहुत-सी चमत्कृति निर्मित करती है, जो कलानन्द की एक प्रेरक वस्तु है।

पाश्चात्य और भारतीय वास्तु-शास्त्र की तुलना में हमें कई मजेदार बातें मिलती हैं। हिमालय से विन्ध्यपर्वत तक कश्यप संहिता, विन्ध्यपर्वत से तुङ्गभद्रा तक भृगु संहिता और तुङ्गभद्रा से नीचे मय संहिता प्रचलित हैं। त्रिवेन्द्रम् से प्रकाशित सोलहवीं शती के ग्रन्थ 'शिल्प-रत्न' में कश्यप-पद्धति 'नागर', भृगु पद्धति 'द्राविड़' और मय-पद्धति 'विसर' कही गई है। इन संहिताओं के अनुसार शिल्प-शास्त्र का प्रधान उद्देश्य मनुष्य का सुख है। उसमें पुख्ता नींव और पाछे की परम्परा को देखकर आगे देखने की बात प्रधान कही गई है। जब कभी कोई इमारत फिर से पक्की बनाई जाय तो उसमें कमजोर हिस्से को और पक्का बनाने की ओर ध्यान दिया जाय यह कहा गया है। शिल्पज्ञ को कृषि-शास्त्र जानना जरूरी है।

प्रत्येक वस्तु के वर्ण, लिंग, वय, अवस्था और संस्कार निश्चित हैं। जैसे अवस्थाओं में प्रकृति, संस्कृति, संस्कृति और विकृति ये प्रधान हैं। यहाँ तक कि सोने-जैसी बेजान चीज़ के भी सोलह संस्कार गिनाये गये हैं। वास्तु-शास्त्र में जो कारीगर चुने जायें उनके बारे में भी नियम हैं। यथा—

आजकल के नाम	कश्यप संहिता	भृगु संहिता	मय संहिता
इंजीनियर	शिल्पज्ञ	सूत्रधार	स्थपति
ओवरसियर	देवज्ञ	गणितज्ञ	सूत्रग्राही
मिस्त्री	विधिज्ञ	पुराणज्ञ	तक्षक
कारीगर	पौर	कर्मज्ञ	वर्धकि
मजूर	नृकर	कारु	कर्मी

मकान बनाने के जैसे सूक्ष्म विवरण इन संहिताओं में दिये हैं, वैसे ही ज़मीन कौन-सी हो; उसमें अड़ोसी-पड़ोसी कैसे हों; कैसे पशु-पक्षियाँ, वृक्षों-वनस्पतियों का सहवास उचित है, कैसी चीज़ों का अनुचित—इन सब बातों के बारे में विस्तार से कहा गया है। घर के आसपास पर्वत, चट्टान हों परन्तु ढलढल, खड्डे न हों; फटी हुई या दारा वाली, हड्डियाँ पड़ी ज़मीन अच्छी नहीं होती यह सब 'शिल्प-रत्न' में कहा गया है। साथ ही किस दिशा में घर के बाथरूम हों, रसोई हो, सोने का कमरा हो वगैरह

१. गोमर्त्यैः फलपुष्पदुग्धतरुभिश्चाढ्या समा प्राक्प्लवा  
स्निग्धा, धीररवा, प्रदक्षिणजलोपेताऽऽशुबीजोद्गमा  
साप्रोक्ता, बहुपांसुरक्षयजला, तुल्या च शीतोष्णयोः  
श्रेष्ठा भूरधमासयुक्त विपरीतामिश्रिता मध्यमा ॥

सब बातें 'नारदीय शिल्प' में दी हैं।<sup>१</sup>

इस प्रकार प्राचीन भारतीय कला के अनुसन्धान के लिए श्री अरविन्द और आनन्दकुमार स्वामी भी चाहे आध्यात्मिकता देखना आवश्यक समझते हों<sup>२</sup> फिर भी, उनमें एक भौतिक उपयुक्तवादी धारा भी अवश्य स्पष्टतः वर्तमान रही है। उसकी खोज का बहुत-सा प्रयत्न इधर डॉ० मोतीचन्द्र, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ० भगवतशरण उपाध्याय, सतीशचन्द्र काला अ० स० आलतेकर आदि ने हिन्दी में भी किया है। फिर भी 'बड़ी आवश्यकता है कि भारतीय शिल्प तथा वस्तु के बारे में छोटे-बड़े अनेक सचित्र ग्रन्थ हिन्दी में' निकलें और वे वैज्ञानिक ढंग पर लिखे हों। यानी उनमें से विवेक इतिहास हो, निरा भावावेश नहीं। 'संस्कृति' के नाम पर पुनरुज्जीवन का नारा आजकल कई जीर्णोद्धारवादी लगा रहे हैं जो सही नहीं है। साहित्य में भी शिल्प-जैसी प्रमाणबद्धता, स्थापत्य-जैसी सुगठित भव्यता तभी आ सकेगी जब हमारी सौन्दर्य-दृष्टि व्यापक बनेगी और हमारी अभिरुचि विकसित होगी। अन्यथा 'मूर्ति' को धार्मिक आवरण में ही सोचने की जैसे हमारी आदत पड़ गई है। और हम उसी मानसिक गुलामी में अभी भी जकड़े हुए हैं।

हमारी प्राचीन सांस्कृतिक धरोहर में शिल्प और स्थापत्य का—क्या गुप्त, मौर्य, गांधार और कुषाणकालीन और क्या पठान, तुगलक, मुगल और ब्रिटिश-कालीन कला-कृतियों का—यथार्थ मूल्यांकन हम तभी कर सकेंगे जब हम जानेंगे कि आज के युग और कला में यथार्थ सामाजिक प्रगति की दिशा में उसमें से कौनसी प्रेरणाएँ प्राप्त हैं और कौनसी बातें निरी विकलांग, मुमूर्षु और अननुकरणीय हैं? उन्हीं सशक्त परम्पराओं को चीन्हना है।

१. स्नानागारं दिशि प्राच्यां अग्नियामग्निमंदिरम्  
अवाच्यां शयनागारं नैऋत्यां वस्त्रमंदिरम्  
प्रतीच्यां भोजनागारं वायव्यं पशुमंदिरम्  
भांडाकोशं तूत्तरस्यां ऐशान्यां देवमंदिरम्

—नारदीय शिल्प

२. 'भारतीय भास्कर्य, मूर्ति-कला का भारतीय दर्शन, धर्म, योग और संस्कृति से घृष्ट सम्बन्ध होने के साथ-साथ उनमें इन सबके रहस्य की व्यापक अभिव्यक्ति भी है।'—कुमार स्वामी—'द एम एण्ड मेथड्स ऑफ इण्डियन आर्ट।'।

## आधुनिक साहित्य और मनोविकृति

आधुनिक कला में असुन्दर का चित्रण बढ़ता जा रहा है; उसी प्रकार आधुनिक साहित्य में विद्रूप और जुगुप्सित, बीभत्स और विकृत रूपों का निरूपण भी एक समस्या बन गई है। आलोचकों के लिए यह एक चिन्ता का विषय है। क्या नये साहित्य में ही मनोविकृतियों का चित्रण बढ़ता जा रहा है; या प्राचीनकाल से बीभत्स और अरम्य (शोटेस्क) के प्रति मनुष्य का आकर्षण इसी प्रकार विद्यमान है? यदि यह चित्रण एक नई वस्तु है, तो वह क्यों इतनी बढ़ रही है और क्या इन मनोविकृतियों के चित्रण का परिणाम हितावह है? और यदि यह विकृतियाँ अनिष्ट हैं, तो इनके निराकरण का क्या उपाय है?

रोदाँ और एफ़ताइन का शिल्प, पिकासो और पॉलक्ली के चित्र, जौइस और सार्त्र के उपन्यास, हेन्तीमूर का अर्ध-शिल्प और ऐसे कई दुर्बोध आधुनिक कला के उदाहरण यह सिद्ध करते हैं कि कला में इस प्रकार की विचित्र, चौंकाने वाली, असंतुलित रचना एक विश्वव्यापी समस्या है। और भारतीय साहित्य-कला में तो प्रगतिशील चिन्ताधारा की नवीन उद्भावना के साथ-साथ इधर सन् '३४ के बाद और उससे अधिक गत महायुद्ध के बाद इस समस्या ने बहुत तान रूप धारण किया है। यह कला जान-बूझकर अब तक अछूत और अस्पृश्य माने जाने वाले विषय चुनती और छूती है। उसका कहना है कि अवचेतन का यथार्थ-चित्रण हमें ऐसी ही दुस्स्वप्न-सम कला की ओर ले जायगा। इन सब कला-कृतियों की एक विशेषता यह भी है कि जन-साधारण के लिए वे एकदम दुर्ज्ञेय और कठिन, पहेली-बुझौवल के समान हैं।

एक तो पुराण-पन्थियों का, सनातन आलोचकों का, दल है, जो इस सारे अघटित व्यापार को सहज ही एक वाक्य से टाल देना चाहेगा कि यह सब तो कला ही नहीं, साहित्य ही नहीं। इस प्रकार कविता में एजरा पाउंड और नरूदा के समान 'व्यक्तिगत कल्पना चित्रों' के माध्यम से विचार करना अकलात्मक है, क्योंकि उसमें प्रेषणीयता का नितान्त अभाव है। परन्तु जो विख्यात शिल्पी-चित्रकार-कवि-उपन्यासकार आदि नाम मैंने ऊपर गिनाये हैं; उनकी कला-कृतियाँ हीन कोटि की, केवल प्रयोग के लिए प्रयोग वाली अधकचरी, मानसिक अजीर्ण की द्योतक वस्तुएँ नहीं—अर्थात् युगान्तरकारी रचनाएँ हैं। अतः इस समस्या को और भी मूलतः पकड़ना होगा।

क्या मनुष्य के मन में जैसे सुन्दर और भव्य, रम्य और कोमल-सधुर के लिए

स्वाभाविक आकर्षण है; वैसे असुन्दर और घिनौने, विद्रूप और घृण्य के प्रति भी कोई प्रबल-आकर्षण है ? मनोवैज्ञानिक इस बात का समर्थन करते हैं। प्रेम और घृणा वस्तुतः उसी एक मनोव्यापार के दो पहलू मात्र हैं। प्राचीन साहित्य-शास्त्रियों में विश्वनाथ ने साहित्य-दर्पण में दीभत्स-रस की मीमांसा इस प्रकार की है—

चित्तद्रवी भावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते ।  
 संभोगे करुणे विप्रलम्भे शान्तेऽधिकं क्रमात् ॥  
 मूर्ध्नि वर्गान्त्यवर्गेन युक्ताष्टठडान्विता ।  
 रणौ लघू च तद्व्यक्तौ वर्णाः कारणातां गताः ॥  
 अविवृत्तिरस्पवृत्तिर्वा मधुरा रचना तथा ।  
 ओज-श्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते ॥  
 वीरवीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिक्यमस्य तु ।  
 वर्गस्याद्यतृतीयाभ्यां युक्तौ वर्णौ तदन्तिमौ ॥

(अष्टमः परिच्छेदः श्लोक २ से ५ तक)

इसका अर्थ है—चित्त का द्रुतिस्वरूप आह्लाद जिसमें अन्तःकरण द्रुत हो जाए ऐसा आनन्द विशेष, माधुर्य कहाता है। यह जो किसी ने कहा है कि माधुर्य द्रुति का कारण है—सो ठीक नहीं है, क्योंकि द्रवीभाव या द्रुति आस्वाद स्वरूप आह्लाद से अभिन्न होने के कारण कार्य नहीं है, आस्वाद या आह्लाद रस के पर्याय है। द्रुति रस ही स्वरूप है, उससे भिन्न नहीं है। और रस कार्य नहीं, अतएव द्रुति भी कार्य नहीं। जब द्रुति कार्य ही नहीं, तो उसका कारण कैसा ? द्रुति का लक्षण कहते हैं—रस की भावना के समय चित्त की चार दशाएँ होती हैं—काठिन्य, दीप्तत्व, विक्षेप और द्रुति। किसी प्रकार का आवेश न होने पर अनाविष्ट चित्त की स्वभावसिद्ध 'कठिनता' वीर आदि रसों में होती है। एवं क्रोध और अनुत्तस्य आदि के कारण चित्त का 'दीप्तत्व' रौद्र आदि रसों में होता है। विस्मय और हास आदि उपाधियों से चित्त का 'विक्षेप' अद्भुत और हास्यादि रसों में होता है। इन तीनों दशाओं—काठिन्य, दीप्तत्व और विक्षेप के न होने पर रति आदि के स्वरूप से अनुगत सहृदयों के हृदय का पिघलना 'द्रुति' कहालाता है। सम्भोग-शृंगार, करुण, विप्रलम्भ शृंगार और शान्त रसों में क्रम से माधुर्य बढ़ा हुआ रहता है। शान्त रस में सबसे अधिक माधुर्य होता है। ट, ठ, ड, ढ, से भिन्न वर्ण आदि में वर्णों के अन्तिम वर्णों (अ भ ङ ण न) से युक्त होने पर माधुर्य के व्यंजक होते हैं। समास-रहित अथवा अल्पवृत्ति अर्थात् छोटे-छोटे समासों वाली मधुर रचना भी माधुर्य की व्यंजक होती है। चित्त का विस्तार स्वरूप दीप्तत्व 'ओज' कहाता है। वीर, दीभत्स और रुद्र रसों में क्रम से इसकी अधिकता होती है। वर्णों के पहिले अक्षर के साथ मिला हुआ उसी वर्ग का दूसरा अक्षर और तीसरे के साथ



मिला हुआ उसी का अगला चौथा अक्षर तथा ऊपर या नीचे अथवा दोनों ओर रेफा से युक्त अक्षर एवं ट ठ ड ढ श और ष ये सब ओज के व्यंजन होते हैं। इसी प्रकार लम्बे-लम्बे समाप्त और उद्धृत रचना ओज का व्यंजन करती है—जैसे चञ्चद्भुज-त्यादि ! विश्वनाथ ने आगे 'प्रसाद' की व्याख्या की है।

वीभत्स रस के सम्बन्ध में विश्वनाथ की शब्द-वर्ण वाली बात को पूर्णतः सही न भी मानें—क्योंकि शब्दों की अभिधाओं में तब से अब तक बहुत परिवर्तन और विकास हुआ है—तो भी यह वाक्य महत्त्वपूर्ण है कि वीर से वीभत्स और वीभत्स से रौद्र रस में क्रमशः दीप्तत्व का आधिक्य होता जाता है।

पहले वीर-रस को ले। मराठी के कवि-आलोचक 'अनिल' ने संस्कृत में 'प्रक्षोभरसस्थापनम्' नामक निबन्ध में प्रतिपादित किया है कि आधुनिक काल में से राष्ट्रीय कविता अथवा मानवतावादी (विश्वबन्धुतावादी) कविता में दोनों के प्रति करुणा तो होती है, उस दैन्य के कारणों के प्रति 'हुंकार' भी होती है, परन्तु पूर्व सूरियों की बताई हुई 'कार्यारंभेषु संरम्भः स्थवान् उत्साह उच्चते' वाली जिगीषा उत्साह उसमें नहीं होता। यदि वीर रस का स्थायी भाव अर्थमान लें, यानी तितिक्षा-साहित्य मान लें, तो भी यह भाव-दशा मात्र होगी, रस-दशा नहीं। अतः 'अनिल' के मत से मानवता पर होने वाले अन्त्याय आक्रमण की, दलितों के प्रति छल की जो तीव्र अनुभूति होती है, इससे मन में संवेग स्थायी भाव निर्माण होकर प्रक्षोभ रस निर्मित होता है।

यह नया रस छोड़ भी दें तो भी आधुनिकतम कविता या कला के रसास्वाद में कटुतिक्त जो अनुभूति होती है, उसे क्या वीभत्स रस में डालें ? ओजगुण यदि उसे मानें तो उसमें आदेश, जोर, सामर्थ्य होना चाहिए। परन्तु कड़वी कविता पढ़कर मनस्त्रास होता है, आवेश नहीं उत्पन्न होता। ओजस् की व्याख्या उच्चारण और अर्थ-दृष्टि से कठिन, समास-प्रचुर रचना मानी गयी है। वामन, भोज और जगन्नाथ ने कठिनतामयी रचना को 'गाढ रचना' भी कहा है। भोज ने तो ओज और औचित्य में भेद किया है। ओज समास-प्रचुर रचना से निर्मित होता है तो औचित्य गाढ रचना से। मम्मट भी ओज के पीछे मन की एक प्रकार की व्याकुलता बताते हैं। जैसे—'घटःपटु इतीतरे पटु रटन्तु वाक्पाटवात्' रचना है। जगन्नाथ ने अर्थप्रौढि को ओज कहा है और उसका लक्षण उदारता अथवा अग्रामता बताया है। वामन ने रचना की विकटता को उदारता कहा है। परन्तु इस उदारता का जोड़ इस नवीन, असुन्दर का जान-बूझकर निरूपण करने वाली अद्भुत रचना से कैसे लगाया जाय ?

इसके दो-तीन कारण बताये जाते हैं। कुछ लोगों का कथन है कि रचनाओं में कठिनता या दुर्लभता निरी उदारता के कारण नहीं, अद्भुत रस की या वीभत्स रस

की उद्भावना के कारण नहीं होती; अपितु सत्य-के नग्न, बेमुरीबत, सीधे-सच्चे चित्रण के कारण, सत्य के दबाव के कारण, the truth, bare truth, nothing but the truth की व्यंजना के कारण ऐसा असंतुलन होता है। क्षेमेन्द्र ने औचित्य-विचारचर्चा में तीसरी कारिका में लिखा है कि—

काव्ये हृदयसंपादि सत्यप्रययनिश्चयात्  
तत्त्वोचिताभिधानेन यात्युपादेयतां कवेः।

अर्थात्, सत्यप्रत्यय आ रहा है ऐसा निश्चय हो सके तो काव्य हृदय को जँचता है। उसमें होने वाले वास्तव दर्शन से ही कवि ऐसा लेखन करें। वही इष्ट है।

इस भूमिका में मैंने संक्षेप में बताया कि आज के साहित्य और कला में कुछ ऐसा ऊबड़-खाबड़, विचित्र-अजीब, नया और असहनीय-सा उभरता चला आ रहा है जिसे हम संक्षेप में मनोविकृति कहें। उसी के रूपों और कारणों और यथासम्भव निराकरण के उपायों की चर्चा हम यहाँ करना चाहते हैं।

मैं कुछ नमूने लेकर चलता हूँ। अपने ही एक कवितानुमा सॉनेट से आरम्भ करता हूँ, जिससे स्थिति की कल्पना की जा सकती है—

जीवन में आ गई बहुत खोखली शून्यता,  
एक अपूरणीय-सा फँसा है अभाव।  
टूट रही है सब रसज्ञता, अहम्मन्यता,  
छितर गया है रसोद्रेक का ही स्वभाव।  
यह क्यों है, इसकी चर्चा भी हमको रुचती नहीं,  
और हम सब भेड़िया-घसान बने जाते हैं।  
एक अजीब-सा युग में छाया है, बातें पचती नहीं,  
व्यर्थ सभी जो बात-बात पर तने-तने जाते हैं।  
सब कुछ पहिले का मिटता-सा, खंडित, जर्जर, रोग-ग्रस्त है;  
अस्त-व्यस्त है साज, रागनी बेठाठा है;  
निकल भागता जीवन का क़ैदी पस्ती से खा शिकस्त है,  
मानो पहरदारों ने कुन्दे से भपट-डपट डाँटा है।  
जीवन का बौना, धिधियाता, बहरा, पंगु, धिनौना, गन्दा,  
और कलाकारों का उससे बचते रहने का है धन्धा।

तो एक पक्ष उन कलाकारों का है जो ऐसी सब बुराइयों से बचते रहते हैं और गालिब के समान कहते हैं—

किस्मत बुरी सही पे तबीयत बुरी नहीं,  
है शूक, की जगा के शिकायत नहीं मुझे !

दूसरा पक्ष उस सारी बुराई से भागता नहीं मगर उसका वर्णन करने जाता है और उसी में जैसे डूब-सा जाता है, खो जाता है, एज़रा पाउंड अपने नवीन कविता-संग्रह 'पिसान कंटोज़' में कहते हैं, जिसकी प्रशंसा टी. एस-इलियट ने 'वाणी की नयी प्रखरता' कहकर की है—

The ant's a centaur in his dragon world  
Pull down thy vanity, it is not man  
Made courage, or made order, or made grace,  
Pull down thy vanity, I say pull down...  
Thou art a beaten dog beneath the hail  
A swollen magpie in a fitful sun,  
Half black, half white  
Nor Knowst' ou wing from tail  
Pull down thy vanity  
How mean thy hates  
Fostered in falsity  
Pull down thy vanity

मानव अहन्ता पर पाउंड की यह चोट ही नहीं, वरन् अधुना अंग्रेजी साहित्य का सारा स्वर ही गत महायुद्ध के बाद बहुत निराशामय और कुंठापूर्ण हो गया है। जीवन का अर्थ जैसे खो गया है। चारों ओर घोर दुराशा की तमिस्रा के सिवा कुछ नहीं। 'अस्तित्ववाद' इसी आत्यन्तिक गतिरोध से उपजा दर्शन है। जॉनपॉल सार्त्र के 'लानासी' नामक फ्रान्सीसी उपन्यास का नायक आंत्वान रोकेंतीन कहता है। 'यदि कोई मुझसे पूछता कि अस्तित्व क्या था तो मैंने उत्तर दिया होता कि वह कुछ नहीं, सिर्फ एक शून्य, खाली खोखला रूप है जो कि बाह्य वस्तुओं का रूप न बदलकर ज्यों का त्यों रखा गया है।'...या 'यह आदमी और इसकी बड़ी-बड़ी नाक के नथुने मोंछ के साथ ऐसे भयानक जान पड़ते हैं मानो वे एक पूरे कुनबे को हवा पम्प करके दे सकते हैं। यही कुनबा उसका आधा चेहरा खा गया है'...या 'पेड़ तैर चले। ऊपर आसमान की तरफ ? या शायद गिर पड़े एकदम। किसी भी क्षण इन वृक्षों के तने गिर पड़ेंगे। वे सब सूख गये। ठिठुरकर गिर पड़े, जैसे थके हुए जादू के डंडे हों। वे सब बिखर-कर जमीन पर एक काले मुलायम, जुड़े हुए ढेर के रूप में हो गये।'

यह केवल सार्त्र के उपन्यास में ही नहीं, सर्वत्र नवीन साहित्य में दिखाई देने वाली क्षुण्णता है। निराला जी के 'खजोहरा' और 'रानी-कानी' या 'कुकुरमुत्ता' जैसी कविताएँ तथा 'नये पत्ते' के कई प्रयोग इस अतिवास्तववादी चेतना के प्रमाण हैं।

अतिवास्तववाद केवल चित्रकला और शिल्प तक ही सीमित न रहकर साहित्य के क्षेत्र में भी उतर आया है। जार्जन ने अपने 'द एस्थेटिक आवजेक्ट' में कहा है कि—

Our age is rich in the profusion of the grotesque.  
The age is replete with life, but it may be that it is the  
super-abundance of life with a dearth of form that is  
characteristic of it.

कुछ इसी तरह की चीज लुई पेंकनीस ने अपनी कविताओं में व्यक्त की हैं—

Fruits and greens are insufficient for health,  
Culture is limited by lack of wealth,  
The tourist sights have nothing like stonehenge,  
The literature is all about revenge.  
They have their faults like all creators, like  
The hero who must die, or like the artist who  
Himself is like a person with one hand  
Working it into a glove

इस प्रकार की कविता में क्षोभ और जुगुप्सा की अभिव्यंजना इसी बात का प्रमाण है कि कवि की 'सूक्ष्म संवेदनाशील आत्मा पर कहीं चोट हुई है और वह तिल-मिला उठा है।

### अतिवास्तववाद

अभी ऊपर मैंने जो चर्चा की उसमें सुररियालिज्म (अतिवास्तववाद) और अस्तित्ववाद (एक्जिस्टेंशियालिज्म) की चर्चा आई है, जिनका विस्तृत विवेचन आवश्यक है। सुररियालिज्म चित्रकला और शिल्पकला की एक शैली-विशेष है जिसमें अचेतन मन की सारी कुंठाओं को व्यक्त किया जाता है। इसके सबसे अच्छे आलोचक और टीकाकार श्री हर्बर्ट रीड के 'मिनिंग ऑफ़ आर्ट' और 'आर्ट नाउ' से इस विषय पर कुछ अंश सुनिए—

सुररियालिज्म समस्त रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह का स्वर उठाने वाला आन्दोलन है। अतः उसका बहुत कड़ा विरोध भी होता है। शास्त्रीय आलोचक तो उसे एक तरह का पागलपन या सनकीपन कहकर टाल देते हैं। पर हम इसे मॅक्स अर्नस्ट और सालवादोर डाली के चित्रों से समझने का यत्न करें। मॅक्स अर्नस्ट ने अचेतन मन के प्रतीकों को चित्रों में व्यक्त करने का यत्न किया है। जैसे अलजब्रा में 'क्ष' एक अज्ञेय परिणाम होता है, वैसे ही सुररियालिज्म चित्रकला का 'क्ष' है परन्तु इतना ही कहना काफी नहीं है। प्रतीकों की संयोजना दो तरह से होती है—मूर्त और अमूर्त। सुररिया-

लिज्म दोनों को मिला देता है। स्वप्न-मीमांसा के मनोविज्ञान से सुररियालिज्म को बहुत स्फूर्ति मिली है। कुछ लोग तो इसी कारण से मैक्स अर्न्स्ट के चित्रों को चित्र कहते ही नहीं। उनके मत से यह तो शुद्ध मनोविज्ञान है या साहित्य; परन्तु चित्रकला नहीं।

जब इस प्रकार के संकेतों के आयोजन में मानवोपरि तत्त्वों का भी सहारा लिया जाता है तब सालवादोर दाली की कला अवतरित होती है। मध्ययुगीन धार्मिक चित्रकार बौश ने स्वर्ग, मृत्युलोक और नरक के तीन चित्र बनाये हैं जिनमें से कुछ के विवरण सुनिए—ये एक गिर्जे की प्रार्थना-पीठिका के मण्डन के लिए बनाये गये थे। मृत्युलोक का चित्रण इस प्रकार—एक नदी-किनारा है। नदी के पानी के नीचे एक अंडा है जिसमें से एक गोल खिड़की काट ली गई है जो कि बाहर एक कांच की नली के रूप में नीचे झुकती है। उसमें से एक आदमी भाँक रहा है और उस नली में घुसने वाले चूहे की ओर घूर रहा है। अंडे के दूसरे छोर पर एक विचित्र पौधा है जिसका फूल फैलकर एक विचित्र शिराश्रों वाला बुद्बुद् बन जाता है जिसमें एक नग्न प्रेमियों का जोड़ा बंठा है। उस फूल के पास एक प्राणी एक राक्षसकाय उल्लू से आलिंगन कर रहा है। और ऊपर कुछ नग्न आकृतियाँ निराश रूप में प्रचण्ड कठफोड़ों पर बैठी हैं।

नरक के चित्रण में एक नग्न मानवाकृति एक बीणा पर गरुड़ की तरह फँसी है। यह बीणा एक बांसुरी में से उगी है, जिसमें साँप लिपटा हुआ है और वह साँप अपनी गुंजलक में एक नग्न मानव को बाँधे हुए है। ऊपर चौतरे पर एक पक्षी के सिर वाला राक्षस बंठा है जिसके पैर सुराहियों के बने हैं। वह एक मुर्दा खा रहा है जिससे पक्षी भाग गये हैं। उस चौतरे के नीचे एक बुद्बुद् है जिसमें से एक मानवाकृति एक गहरे गड्ढे पर आधी झुकी है। एक आदमी एक सूअर का चुम्बन ले रहा है, इतने में एक काल्पनिक कीड़ा आकर उसे कुतरता है जिसके पैर आदमी की तरह हैं और सिर से एक टूटा हुआ आदमी का पैर लटक रहा है ...

(हमारे यहाँ भी जैन पुराणों में ऐसी कई विचित्र घटनाएँ मिल जायेंगी।) सालवादोर दाली इसी प्रकार अबुद्धि-संगत प्रतीक-योजना करता है। वह अक्सर लेडी शू में दूध का ग्लास चित्रित करता है।

‘आर्ट नाउ’ के पाँचवें अध्याय में हर्बर्ट रीड सुपररियालिज्म को स्वयंचलनवाद (Automatism) कहकर पिकासो की कला की चर्चा करता है। पिकासो पर एम. जर्बोस पाँच खण्डों में एक ग्रन्थ लिख रहे हैं जिसका यह अंश रीड ने उद्धृत किया है—पिकासो ने अपनी दृष्टि और अपनी कामना (Will) को कभी विरोध में नहीं रखा ... दृष्टि और कामना भिन्न बातें हैं। दूसरे में एक सतत प्रयत्न रहता है; अन्तर्ज्ञान अज्ञात में एक साहसपूर्ण उड़ान है। वस्तुओं का सारतत्त्व, जब तक आत्मा-

नभूति का तनाव नहीं होता, कोई नहीं ग्रहण कर सकता। पिकासो ने कहा कि मैं दूसरों के लिए देखता हूँ।...पिकासो के प्रेरणा के क्षण गहरी वेदना और आत्म-मंथन से भरे होते हैं। उसकी संपूर्ण इच्छा आत्म-प्राप्ति है। पिकासो देखता है कि उस पर कई तरह के परत जम गये हैं, जिन्हें वह भाड़ फेंकना चाहता है। वह सब बाधाओं को तोड़ना चाहता है। अतिवास्तववादियों ने युग के सामूहिक अवचेतन की स्थापना को मानकर निरीक्षण के स्थान पर अन्तर्ज्ञान, विश्लेषण के स्थान पर संश्लेषण, वास्तवता के स्थान पर अपरवास्तवता को प्रश्रय दिया है।

जबोंस के आन्तरिक स्वगत-भाषण की तुलना करके रीड आगे कहते हैं कि साहित्य और कला में आकृति या रूप की कल्पना का पुनर्निरीक्षण आवश्यक है। रोजर फ्राम के 'कलाकार और मनोविश्लेषण' (होगार्थ १९२४) नाम के प्रबन्ध से वे उद्धरण देते हैं—'प्रतीक दो तरह के होते हैं; एक इंद्रियसंवेद्य, दूसरे अवचेतन पर आधारित ही वैज्ञानिक और कलाकार के प्रतीकों का सहारा छोड़ देगा; क्योंकि कविता जितनी ही अशुद्ध होगी, उतनी स्वप्न पर आश्रित होगी।' (In proportion as poetry becomes impure it accepts dreams.)

सुररियालिज्म के पूर्व ज्यूरिच में १९१६ में जन्मा और १९२४ में मरा 'दादाइज्म' था। उसी की रक्षा में अतिवास्तववाद का जन्म हुआ। कवि आँन्द्रे ब्रेटॉन ने उसका उद्घोषण-पत्र प्रकाशित किया। उसके अनुसार हमारी साधारण दुनिया से एक और बड़ी दुनिया हमारे अवचेतन मन की है। अतिवास्तववादी यद्यपि लौत्रीमाँ (Lautreamont) को अपना गुरु मानते हैं; और हेगेल के दर्शन में कुछ अपना समाधान खोजते हैं, फिर भी उसकी प्रेरणा का स्रोत फ्रायड से अधिक संबद्ध है। स्वप्न-चित्रों का आधार दोनों ही लेते हैं। सुररियालिज्म केवल स्वप्न या अचेतन की कला नहीं। वह कोई भी बन्धन नहीं मानती। वह तो अपने भीतर सीधे उतर जाना चाहती है। कल्पना के तुरंगों को स्वच्छन्द छोड़ देने पर, उनके अनुसार अचेतन मन के कई अविज्ञित प्रदेशों पर अधिकार प्राप्त हो जाता है। यह प्रक्रिया स्वयं चालित है। जो लोग इन नये चित्रों को नहीं समझते उनसे पिकासो ने प्रश्न किया है—हर कोई इन चित्रों का अर्थ पूछता है? आप पक्षियों के गाने का अर्थ क्यों नहीं पूछते? रात और फूल और यह आसपास का सब कुछ समझने का प्रयत्न न करते हुए आप क्यों और कैसे चाहते हैं कि ये चित्र ही आपकी समझ के विषय हों? जो लोग इन चित्रों को समझने का यत्न करते हैं, वे अक्सर शल्लत समझाते हैं।

#### अस्तित्ववाद

अस्तित्ववाद पर मे 'अभिरुचि' के अगस्त १९४८ के अंक में प्रकाशित अपने मराठी लेख 'सार्त्र व माक्स' का अनुवाद यहाँ दे रहा हूँ—

मई, १९४७ के 'देमाँक्रेती नॉवेल' में सेसील आन्ड्रांड ने एक लेख में अस्तित्व-वाद का सच्चा स्वरूप खोलकर दिखाया है। अस्तित्ववाद, मार्क्सवाद-विरोधी, समाज-वाद-विरोधी, जनतन्त्र-विरोधी, पुराने आदर्शवाद की बासी कढ़ी में उबाल लाने वाला व्यक्तिवादी दर्शन है—यह इस लेख में प्रतिपादित किया गया है। 'माडर्न क्वार्टर्ली' के जिनर १९४७ के अंक में कुर्त ब्लाउकार्फ़ ने 'आइडियालोजी एंड रियालिटी' नामक छोटे लेख में, अस्तित्ववाद पर जो कुछ आध्यात्मिक कलई चढ़ी रहती है उसे भी पूरी तरह खोल दिखाया है। यह लेख में दो लेखों के आधार पर लिख रहा हूँ।

जीनपॉल सार्त्र के ८०० पृष्ठों के 'अस्तित्व और नास्तित्व' (*L'etre et le Neant*) ग्रन्थ में पृष्ठ ३५६ पर का यह उद्धरण पढ़िए; इससे उसकी शैली की दुर्बोधता का परिचय होगा—'इस आध्यात्मिक प्रश्न की संभावनीयता ज़रा अधिक सूक्ष्मता से देखे। सबसे पहिले यह जो कुछ दिखाई देता है वह ऐसा है, कि दूसरे के लिए अस्तित्व नाम की जो चीज जान पड़ती है वह वस्तुतः 'स्व' के लिए जीने की तीसरी कैवल्य-स्थिति है। पहिली कैवल्य-स्थिति, यानी 'स्व-के-लिए जीने की मनः-स्थिति का अनस्तित्व के ढंग पर घटित अस्तित्व की ओर त्रिगुणात्मक प्रक्षेपण। इस प्रक्रिया में से पहिला प्रस्फोट दिखाई देता है, जिससे 'स्व-के-लिए' जीना स्वत्व-प्राप्ति करना है। और स्व की घटना से सुसंगत ऐसी स्वतः अलग होने की क्रिया का अभाव उस स्थान पर व्यक्त होता है।'।'

उसके शिष्य भी उसका ग्रन्थ समझते हैं या नहीं, भगवान् जाने !

वी० क्र० जेरोम ने अपनी 'कल्चर इन दी चेंजिंग वर्ल्ड, ए माक्सिस्ट एप्रोच' नामक दिसम्बर १९४७ में अमरीका में छपी पुस्तक में "एक मुमूर्षु समाज-व्यवस्था के लिए विचार-प्रणाली" इस शीर्षक के नीचे निम्न-दर्शनों की प्रलोचना की है—(१) अबुद्धिवादी: बर्गसाँ, क्रोचे, ड्युई, श्लेसिंगर स्टाइन्बेक्; (२) वैख्य के डिडिम-अस्तित्ववादी: सार्त्र, अलबर्ट केमस्; (३) मृत्युपूजक दार्शनिक: सरेन्, कीर्कुगार्ड, फ्रांज़ काफ़्का और मार्टिन हाइडेगर; (४) श्रद्धापंथी; ईलियट्, जे राल्ड हड, आल्डस् हक्सले, ईशरवुड्,

---

१. "Let us examine the possibility of the metaphysical question more closely. What appears first of all is that being-for-others represents the third 'ek-stasy of being-for-oneself. The first 'ek-stasy' in effect, the three-dimensional projection of being-for-oneself becomes itself, the tearing away of being-for-oneself from all that it is, in so far as this tearing-away is constitutive of its being..."

कार्लशिपारो, मैक्सवेल ग्रैंड्सन्; (५) राक्षसपूजा और वैश्वानरपंथ : एच० एफ० नीग्रोबिरोधी हॉलिबुड के दिग्दर्शक और चित्रपट-निर्माता, अमरीकी समाचार-पत्र संचालक । जेरोम लिखता है—

“आजकल अमरीकी पराश्रयी (बोर्जुआ) वर्ग एक नया परदेशी ‘वाद’ उधार लाया है । वह एक रहस्यवादमय भानमती के पिटारे के भाँति वाद है—अस्तित्ववाद । यह आजकल चलने वाला एक साहित्यिक दार्शनिक फैशन है और अबुद्धिवाद की आकाश-वाणी है ।

“अस्तित्ववाद सर्वोपरि या चरम-परम (ट्रन्सेन्डेन्टल) मानव पर अधिष्ठित है । मनुष्य अपने संकल्प और शक्ति के चुनाव में सर्वथा पूर्णतः स्वतन्त्र है । ‘मनुष्य का अर्थ है स्वातन्त्र्य’ (मन इज फ्रीडम) ऐसा जीनपाँल सार्त्र का सूत्र है । मनुष्य स्वयं का जो कुछ बनाएगा उससे परे कुछ है ही नहीं । यह अस्तित्ववाद का प्रथम सिद्धान्त है । उनकी दृष्टि से मनुष्य में ‘स्व’ के प्रति चेतना निर्मित करना, सब जिम्मेदारी ‘व’ पर ही है ऐसा मानना काफ़ी है ।”

“मनुष्य को—यानी जनता को—स्वयं के अस्तित्व के लिए जिम्मेदारी पहचानने के लिए बाध्य करना मार्क्सवादी की दृष्टि से एक सामाजिक आवश्यकता है । परन्तु यह चेतना सिर्फ हवा में जाग्रत नहीं होती । उसके सामाजिक परिपाइव में, ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया में यह जाग्रत मनुष्य अनुभव करता है । स्वतन्त्रता आवश्यकता की पहचान मात्र है । मार्क्स के शब्दों में—‘मनुष्य इतिहास बनाता है; परन्तु वह इतिहास अपने स्वयं के सम्पूर्ण कपड़े में से काटकर नहीं निकालता’ ।

“संक्षेप में, मनुष्य स्वयं निर्माण करने वाला, बनाने वाला है; उसी प्रकार वह निर्मित होने वाला भी है । यही सच्चा ऐतिहासिक मानव है । सार्त्र का निरा अध्यात्मजीवी मनुष्य सर्वथा मुक्त, पूर्णतः अमर्यादित (इनडिर्टिमेनेट) है । ऐसे आदमी की छलाँग उसे स्वतन्त्रता के उच्च स्तर में नहीं उड़ा ले जाती; परन्तु वह दासता की अंधेरी गुहा में डुबा देने वाली है । मनुष्य को संकल्प की स्वतन्त्रता का सब्ज बाग दिखाकर उसे प्रत्यक्ष अस्तित्व में प्रचलित समाज-व्यवस्था का जूआ मनवाने पर बाध्य करना ही उसका ध्येय है; क्योंकि सब पाप जैसे अस्तित्ववादी समझते हैं उस प्रकार से वैयक्तिक ही हों और सामाजिक पाप न-ही हों, तो मनुष्य के दुःखों की सामाजिक जिम्मेदारी, सामाजिक कारण-परम्परा पूर्णतः नष्ट हो जाती है ।

“अस्तित्ववाद के इस परम और सर्वोपरि व्यक्तिवाद में कार्य-कारण-परम्परा को स्थान नहीं है । ‘विज्ञान में कारण-विचार है न ?’ इस प्रश्न का उत्तर देते हुए सार्त्र कहता है—‘बिलकुल नहीं । विज्ञान तो अतीन्द्रिय होते है । वे भाववाचक तत्त्वों के अन्तर का अध्ययन करते हैं । उनका प्रत्यक्ष वास्तविकता से कोई सम्बन्ध



नहीं<sup>१</sup> ।' इस प्रकार कार्य-कारण-परम्परा का त्यागकर के अस्तित्ववाद सब प्रकार की, सुसंगति, सम्बन्ध, परस्परश्रय, परस्पर-परिणाम को नष्ट करता है । इस प्रकार प्रकृति की मानव पर और मानव की प्रकृति पर होने वाली परस्परावलम्बी प्रक्रिया की ओर से पीठ फेरकर, सार्त्र आदमी की क्रियाओं का उसकी चेतना पर होने वाला परिग्राम अमान्य करता है । इस प्रकार सामाजिक जीवन के द्वार बन्द करके अस्तित्ववाद गूढ़ गुंजन, रहस्यवाद, अध्यात्मप्रवणता और उसके राजनीतिक पर्याय प्रतिक्रियावाद को पास बुलाता है ।

“सार्त्र का यह एकाकी आदमी कार्य-कारणों के, समाज-परिस्थिति के, इतिहास-नियमों से ऊपर उठा हुआ यह आदमी, सिर्फ पाप की छाया में घूमता रहता है । यह असामाजिक, चिरव्यथित, आत्मविश्वास-शून्य और तिरस्कार से भरा हुआ प्राणी है । सार्त्र कहता है—‘मनुष्य का अर्थ ही है एकाकीपन ।’ ‘बाहर जाने के लिए राह नहीं’ नामक नाटक में उसने एक अर्थपूर्ण वाक्य लिखा है—‘और सब कुछ नरक है !’

“सार्त्र को १९४७ में अमरीकन नाट्य-परीक्षक मण्डल ने सर्वोत्तम विदेशी नाटककार का इनाम दिया । उसने फ्रान्स के लड़ने वाले लोगों से मंत्री करके थोड़े से शिष्य भी जुटा लिये और अपने आसपास क्रान्तिकारकता का आभा-बलय भी फैला लिया है । परन्तु वस्तुतः अत्यन्त व्यक्तिवादी, टटपूजिये अराजकवाद का आत्मसमाधान सिर्फ उसमें से मिलता है । उसका शिष्य आल्बर्ट केमस कहता है—

‘आत्महत्या, यही एकमात्र गम्भीर दार्शनिक समस्या है ।’

“इस अबुद्धिवाद के उत्तम नमूने काफ़्का के उपन्यास में, किर्कगार्ड की धार्मिक आत्म-स्वीकृतियों और मार्टिन हाइडेगार के लेखों में व्यक्त होते हैं । काफ़्का कहता है—‘सिर्फ आध्यात्मिक जगत् ही सच्चा है । जिसे हम भौतिक जगत् कहते हैं वह आध्यात्मिक दृष्टि से पाप है, इसीलिए सच्चे केवल्य ज्ञान की प्रथम सूचना मृत्यु के प्रति कामना पैदा होना है

किर्कगार्ड के अनुसार,

‘आत्म-परक बनना ही यदि जीवन-कार्य है तो व्यक्ति के लिए मृत्यु का विचार निरी सामान्य कल्पना न होकर वस्तुतः वही कर्तव्य-कर्म है ।’

‘हाइडेगार कहता है—‘मनुष्य प्राणी के अन्तःकरण में से सतत इस व्यथा

---

१, Absolutely Not. The sciences are abstract, they study the variations of equally abstract factors and not real causality.

का कंपन चल रहा है'' इस व्यथा का अभाव ही मनुष्य के मौलिक शून्यतत्त्व का आविष्कार है'।

“इस प्रकार अस्तित्ववादी अपनी साहित्यिक-सांस्कृतिक परम्परा के समूह तत्त्वों को भी अमान्य सोवियट लिटरेचर करते हैं। वाई-फ़्रिड के मासिक के मूल रूपी लेख का एम. एन. राय के द्वारा किया हुआ एक अनुवाद ‘माडर्न क्वार्टर्ली’ के १९४७ के ग्रीष्म अंक में प्रकाशित हुआ है—‘A Philosophy of Unbelief and Indifference: Jean Paul Sartre and Contemporary Bourgeois Individualism’ नाम से। उसमें अस्तित्ववादियों की ओर से माने जाने वाले इस बड़े श्रेय का खंडन किया गया है कि अस्तित्ववादियों ने आध्यात्मिक उपन्यास साहित्य में रूढ़ किया। सार्त्र की साहित्यिक कृतियाँ देखिये। सार्त्र की पहली किताब ‘दीवार’ (एक कहानी-संग्रह) दूसरे महायुद्ध से पहिले प्रकाशित हुई। उसके बाद ‘नॉशीया’ या ‘मितली’ नामक उपन्यास में उसने जीवन के प्रति अपना दृष्टिकोण स्पष्ट किया है। उसके अनुसार जीवन अर्थ-शून्य, फीका, उबा देने वाला, सिर्फ उगते जाने वाला घृणास्पद कुछ तो भी है, अतः मनुष्य स्वयं तथा आत्म-कर्माँ के प्रति उत्तरदायी है। पश्चिमी साहित्य में यह नयी बात नहीं है। आँद्रे मालराँ, आँद्रे जीद, स्ट्रिडबर्ग के पात्रों के और जेम्स जॉइन्स, डॉस पापाँस्, ज्यूल्स रोमन्स इत्यादि के नमूने की प्रतिकृतियाँ सार्त्र में सर्वत्र मिलती हैं। सार्त्र के गुरु हैं हाइडेगार और किर्कगार्ड। १९१६ में प्रकाशित रोनाल्ड लैथैम नाम के अंग्रेज लेखक की ‘इन सच ऑफ़ सिविलिजेशन’ नाम की किताब में अस्तित्ववाद बीज मिलते हैं।

“इन सबके अनुसार मानव अपूर्ण है। सिर्फ कुछ अस्तित्ववाद और व्यक्तिवाद के नेता अपवाद हैं। सारी मानव-जाति आज असंतुष्ट, अपनी ही स्वयं की परस्पर-विरोधी वासनाओं और कामनाओं के भँवर में पड़ी हुई, विसंगत और व्यक्तित्व-शून्य बनी है। इसलिए मनुष्य कृति की एक बड़ी भारी भूल है। दोष पूँजीवादी समाज-व्यवस्था का नहीं, इस अप्राकृतिक स्वभाव का है। इसलिए कटु सत्य मानवी अपूर्णता का है। यही कटु सत्य लैथम जैसे अंग्रेजी इतिहासकार, ब्रेटॉन जैसे त्रास्कीवादी सररिअलिस्ट और नोतेसेपंथी लोग मानते आ रहे हैं। मनुष्य के भविष्य के विषय में जो निराश है, वे ही प्रत्यक्ष वस्तुस्थिति से भागना चाहते हैं, और वही सार्त्र के जाल में अटकते हैं। उनके मत से मनुष्य ऐसा ही अपूर्ण रहेगा और उसे निरा अस्तित्व प्राप्त होगा।

“ऊपर-ऊपर देखने वालों को सार्त्र का सूत्र, ‘मनुष्य जो कुछ अपने आपको बनाये, वही है’ (Man is only what he makes of himself) बड़ा सीठा जान पड़ता है। परन्तु वस्तुतः सार्त्र आज के जीवन की विषमता, अन्याय और

दुःख के कार्यों को एक बना देता है, साँझ दृष्टि को धुंधला बनाना चाहता है उसके अनुसार नियति अपरिवर्तनीय है। सार्त्र के Reprieve नामक उपन्यास में मनुष्य को डराने वाली यह नियति युद्ध के भय के रूप में अवतरित हुई है।

“सार्त्र को सामाजिक घटना से, व्यक्ति की बेकारी या रोजगार से कोई मतलब नहीं। वह केवल, ‘शापित मानव’ के अस्तित्व की मर्यादाओं का विचार करता है। उसके शब्दों में, यही अन्त में जान पड़ा कि मनुष्य सर्वथा एकाकी हुआ कि उसे व्यक्ति-स्वातन्त्र्य मिल जाता है। दस्ताएवस्की ने कहा—परमात्मा न होता तो सब कुछ चल जाता। सार्त्र जैसे अस्तित्ववादी इसी छोर से शुरु करते हैं—‘परमात्मा नहीं है। अब सब कुछ चल सकता है!’ परन्तु इस ‘सब कुछ’ की भी कुछ मर्यादाएँ हैं या नहीं? अकेला बेकार आदमी कितना भी सिर पचाए तो भी मिल-मालिक नहीं बन सकता, और रेलगाड़ी के आगे सो जाने से भी बेकारी की समस्या हल नहीं होती।

“अस्तित्ववादियों का प्रगति पर विश्वास नहीं। उनके मत से सब-कुछ ज्यों-का-त्यों रहता है। अच्छे-बुरे का निर्णायक व्यक्ति-मन है और उसे चुनने वाला क्षण है। इस प्रकार अस्तित्ववाद क्षणिकवाद और संदेहवाद का विचित्र मिश्रण है। यदि व्यक्ति की उस क्षण की झुंजी हुई बात निष्पाप ही होती है तो फिर परिताप क्यों होता है? दुःख का मूल क्या? सार्त्र के मत से ‘मानवी अपूर्णता’ उसका कारण है। वह निष्काम कर्मयोग के समान ‘to act without hope of future’ की चर्चा करता है और अनासक्त या ‘स्टोइक’ बनकर मार्क्स की ओर हिकारत से देखकर कहता है—‘उँह, यह तो स्वयं की शक्ति बढ़ाने का व्यर्थ का भ्रमेला है।’

“लेनिन ने १९३६ में दि प्रालिटेरियन रिवोल्यूशन में कहा था—‘अराजकवाद पराश्रयी व्यक्तिवाद का ही दूसरा रूप है। व्यक्तिवाद ही अराजकवादी दृष्टिकोण का मूलधार है... अराजकवाद निराशा का परिणाम है’।<sup>१</sup>

“सार्त्र की उपन्यासत्रयी के प्रथम खण्ड ‘The Age of Reason’ का मुख्य पात्र दर्शन का मैथ्यू दलार्न है, जिसका प्रिय व्यवसाय है बालू के प्राध्यापक किले तैयार करना और उन्हें फिर मिटा देना। इस किले की स्तुति वह ‘वाह बहुत अच्छे! हवा से आवृत्त, निराधार और फिर गिरेगा भी नहीं!’ कहकर करता है और फिर वह अपने ही हाथों तोड़ भी देता है। इस रचना से वह शेर याद आता है—

‘बना-बना के जो दुनिया मिटायी जाती है।

ज़रूर कोई कमी है जो पायी जाती है ॥’

---

१. “Anarchism is bourgeois individualism turned inside out...Individualism is the basis of the whole outlook of anarchism...Anarchism is the child of despair.”

“यही संघर्ष आगे चलकर स्पेन के युद्ध को ‘आशा-शून्य संघर्ष’ कहकर युद्ध के प्रति अपना प्रेस व्यक्त करता है। अस्तित्ववाद के दाय के लकड़ी के घोड़े के पेट में बहुत सा प्रतिक्रियावाद छिपा हुआ सार्त्र के ‘Morts Sans Sepulture’ नामक नाटक पर पेरिस में रोक लगा दी गई। लंदन के लिрик थिएटर में उसी नाटक का ‘Men without Shadows’ नामक अनुवाद जुलाई १९४७ में दिखलाया गया। इस नाटक के पात्र शान्ति से अन्याय सहन करते हैं; मौन से प्रतिकार करते हैं—और वह भी फ्रांस की स्वतन्त्रता के लिए नहीं—व्यक्ति की स्वाधीनता के लिए।

“ए-कार्नु ने ‘माक्सवाद’ और साहित्यिक सड़ांध’ नामक प्रबन्ध में ‘अस्तित्ववाद की जड़ों’ पर चर्चा की है और रेनर मारिया रिलके की भावुक, दुर्बल, रुग्ण, प्रेम-निराश, दुःखान्त कविताओं को इस नये दर्शन का आदिसूत्र कहा है। ‘The Notebook of Malte Laurids Brigge’ न्थ में आत्महत्या की कामना करने वाला नायक पेरिस शहर में जाता है—वहाँ एकाकी, दुःख से पीड़ित रहते समय वह अपना चेहरा साफ़ रखने में, नख वगैरह काटकर व्यवस्थित रखने में संतोष प्राप्त करता है। रिलके के युवक नायक का, यह अपमानवी आत्मिक विद्रोह स्वप्न-सृष्टि में खो जाता है और मृत्यु-पूजा ही उसका अन्तिम धर्म बन जाता है। कार्नु के मत से टामस मान के बुडेनबक्स विश्लेषण में भी सामाजिक कारणमीमांसा छोड़कर उसी कुण्ठा का वह स्वयम् शिकार बना जान पड़ता है।”

अपने मूल मराठी लेख का केवल एक अंश मेने सुनाया। इससे अस्तित्ववाद के एक पक्ष का काफ़ी दिग्दर्शन होगा ऐसी आशा है।

×

×

×

क्या कवियों में ही कुछ दोष है जो उनकी रचनाएँ गद्यप्राय हो गई हैं? क्षेमेत्र का यह उद्धरण ‘आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने ‘आजकल के छायावादी कवि और कविता’ में बहुत वर्षों पूर्व उद्धृत किया था—

यस्तु प्रकृत्याश्मसमान एव कष्टेन वा व्याकरणेन नष्टः

तर्केण दग्धोऽनलधिमना वाप्यविद्धकर्णः सुकविप्रबन्धैः।

न तस्य वक्तृत्वसमुद्भवः स्याच्छिक्षा विशेषैरपि सुप्रयुक्तैः

न गर्वभोगायति शिक्षितोऽपि संदर्शितं पश्यति नार्कमन्धः॥

अर्थात्—जिसका हृदय स्वभाव से ही पत्थर के समान है, जो जन्म-रोगी है, व्याकरण ‘घोकते-घोकते’ जिसकी बुद्धि जड़ हो गई है, घट-पट और अग्नि-धम से सम्बन्ध रखने वाली फक्किका रटते-रटते जिसकी मानसिक सरसता दग्ध-सा हो गई है, महाकवियों की सुन्दर कविताओं का श्रवण भी जिसके कानों की अञ्छा नहीं लगता, उसे आप चाहे जितनी शिक्षा दें और चाहे जितना अभ्यास कराएँ, वह

कभी कवि नहीं हो सकता। जैसे सिखाने से भी गधा गा नहीं सकता या अन्ध सूर्योदय नहीं देख सकता।

एक दल उन लोगों का है जो सारा दोष वर्तमान युग पर ही मढ़ते हैं। मराठी उपन्यास 'डाक-बंगला' में एक तरह की अपने चार स्थलों की कहानी बुनाती है। उपन्यास की भूमिका में लिखा गया है कि जिन्हें पुस्तक में अश्लीलता जान पड़े, उन्हें मैं बता दूँ कि आज का युग ही अश्लील है। प्रगतिवादी आलोचक कुछ इसी प्रकार का तर्क प्रयुक्त कर कहते हैं कि आज का युग ही ह्रास और स्मरण का (Decadence) का युग है। अतः जो कुछ इसमें लिखा या कहा जायगा उस मर्म से जरूर अछूता नहीं रह सकता।

तात्पर्य, आज की साहित्य-कला में—दुरुहता, दुर्बोधता; ग्राम्य तथा अशिक्षित विषयों की चर्चा; मनोविकृतिपूर्ण चरित्रों का चित्रण; यौन तथा अन्य मनोविकारों से ग्रस्त मानवों के संज्ञा-प्रवाह का यथातथ्य वर्णन; कुंठा और त्रास; मनोबौद्धिक और हताशता; एतादृश्यत्व से समझौता अथवा आत्म-हन्तामयी खीझ; बौद्धिक ह्रास और एक डण्ड से सबको पीटने की पाशवी वृत्ति; अवर्ण्य की अवतारणा और जुगुप्सित का जान-बूझकर वर्णन बराबर बढ़ता जा रहा है।

इसके कुछ कारण जो आलोचकों ने सुभाये हैं वे इस प्रकार हैं—

१. साहित्य-कला के वर्ण्य-विषय में ही दोष बढ़ते जा रहे हैं।
२. ज्ञान का क्षेत्र व्यापक होता जा रहा है; अतः चेतना अधिक बहुमुखी और चक्राचार होती जा रही है।
३. साहित्यकार का व्यक्तित्व कुचला हुआ और आत्मपीडक है।
४. साहित्यकार एकान्त व्यक्तिवाद का पोषण करता है अतः उसकी चिन्ता-धारा ही कल्पनाश्रित 'रूपवाद' में खो गई है।
५. साहित्य की अभिव्यंजना के नये-नये साध्य और साधन बढ़ते जा रहे हैं। अतः साहित्यकार की प्रयोगशील अवस्था की यह तुलनाहट है।
६. जीवन के घिराव संघर्ष में साहित्यकार दिशि-हारा, पथ-हारा हो गया है। इसलिए राह न सूझने से वह अंधेरे में टटोल रहा है।
७. या, आज का पाठक और श्रोता ही विकृति का प्रशंसक और इच्छुक बन गया है। अतः फिल्मों के समान साहित्य और कला में भी एक प्रकार सस्तापन, भद्दापन या हलकापन आ गया है।<sup>१</sup>

१. अस्तित्ववाद के दो प्रमुख सिद्धान्त हैं—भाव सामान्य निरपेक्ष है (Existence precedes essence) एवम् जीवन चिन्ता, एकाकीपन तथा निराशा है (Anguish, despair and abandonment)। मनुष्य स्वयं के कार्यों के प्रति उत्तरदायी होने से आत्मनिर्माण करता है, जिसमें उसे उपस्थित घृणा, मुक्ति एवम् नैराश्य में अपना मार्ग-निर्माण करना पड़ता है। —सम्पादक

मैंने कुछ कारण ऊपर सुझाये हैं। और भी कारण हो सकते हैं।<sup>१०</sup> मैं विस्तार में जाना नहीं चाहता। परन्तु एक तो हमें आज के साहित्य में अस्वास्थ्य को मानकर चलना चाहिये और उससे लड़ने का यत्न करना चाहिए, अथवा फिर उसे एक अनिवार्य युग-रोग मानकर स्वीकार करके चुप रहना चाहिए जो कि इष्ट नहीं। साहित्य में स्वास्थ्य कैसे लाया जा सकेगा, यह दूसरा विषय है, अतः दोषों के निराकरण की चर्चा अन्य प्रबन्ध में करूँगा।

## मार्क्सवाद और सौन्दर्यशास्त्र

साहित्य और कला के क्षेत्र में प्रगतिशील आलोचना-पद्धति के प्रवेश के साथ-साथ यह प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण होकर सामने आ गया है कि क्या मार्क्सवाद का सौन्दर्यशास्त्र से कोई सम्बन्ध है ? और यदि है तो वह किस प्रकार है ? इस समस्या पर स्पष्ट और सर्वाङ्गीण विचार न होने के कारण बहुत-सी गलतफहमियाँ आलोचना के क्षेत्र में फैल रही हैं। उदाहरणार्थ, वे छिछले आलोचक जो मार्क्स की दर्शन-पद्धति को पूरी तरह नहीं समझ पाते या ग्रहण नहीं कर सकते, वे उसे भौतिकवादी (यानी चावकि की तरह सुखवादी) कहकर ढाल देना चाहते हैं, और कहते हैं कि मार्क्सवाद के मानी तो 'रति और रोटी' की छूट और मनुष्य का पुनः पशु बन जाना या आदिम मानव की भाँति स्वच्छन्द बन जाना है। दूसरी ओर जो अधिकचरे मार्क्सवादी हैं, वे मार्क्सवाद के एकांगी पक्ष को ही लेकर हर जगह, साहित्य और कला के इतिहास में भी, केवलमात्र आर्थिक मानदंडों का स्थूल रूप से प्रयोग करके उस तर्क-पद्धति को एकदम शब्द प्रामाण्य की, सनातनीत्व की कोटि में ले जाते हैं। इस प्रकार मार्क्सवाद जो कि द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का दूसरा नाम है, उसें सौन्दर्यशास्त्र पर घटित करने में बड़ी भूलें होने की संभावना है। अतः प्रस्तुत निबन्ध में मैं प्रयत्न करना चाहता हूँ कि मार्क्स को जो विशेष तर्क-पद्धति थी, जो कि हेगेल के आदर्शवाद के विरोध में उसने प्रस्तावित की थी, उसका प्रयोग साहित्य-समीक्षा और कला-समीक्षा में किस प्रकार हो सकता है, उसकी सीमाएँ हैं और उसकी इष्टा-निष्ठता किन कारणों पर अवलंबित है।

मार्क्सवाद अथवा द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की निम्न विशेषताएँ हैं—पहिली बात तो यह है कि मार्क्सवाद एक बुद्धिग्राह्य, वैज्ञानिक दर्शन-पद्धति है। वहाँ मनुष्य की सभी समस्याओं के विश्लेषण का प्रयत्न उसमें विवेकयुक्त किया जाता है। वहाँ किसी अदृश्य, अज्ञेय, अपरोक्ष सत्ता या रहस्यात्मक शक्ति पर अवलंबित नहीं रहा जाता। जो है, प्रत्यक्ष, प्रयोग्य और तर्क की सीमा में है। 'तर्कप्रतिष्ठानात्' कहकर वहाँ समस्या को ढाला नहीं जाता। दूसरी बात यह है कि मार्क्सवाद एकांगी दर्शन नहीं है; वह आज उसके राजनैतिक रूप में कुछ कठमुल्लापन भले ही दिखाता हो, दार्शनिक या सैद्धान्तिक पक्ष में वह शब्द-प्रामाण्य का घोर विरोधी है; वह मानवी अनुभव की समग्रता, विशालता और सर्वव्यापकता को अपनी सम्पूर्णता के साथ ग्रहण करना

चाहता है। समाज और उसके विकास की सभी अवस्थाओं का वह विश्लेषण करता है। अतः वह किसी भी मत या वाद को अछूत नहीं मानता। वहाँ ऐसा भेद-भाव नहीं है कि केवल आस्तिक दर्शन ही पढ़े जायें, नास्तिक दर्शनों को ज़रा सौतेले बच्चों की भाँति दूर रखा जाय। मार्क्सवाद की तीसरी विशेषता यह है कि वह परिवर्तनशील, विकासगामी दर्शन है। वह 'कूटस्थमचलनध्रुवम्' कहकर किसी ब्रह्म का पिंड पकड़कर नहीं बैठ जाता। वह उन ग्रंथों की तरह नहीं कि जो हाथी के अंग विशेष को पकड़कर उसी को समूचा हाथी मान लें। वह गत्यात्मक दर्शन है। अतः वह स्थितिस्थापकवादी नहीं। साथ ही उन्नीसवीं सदी के सुधारवादी व्यक्तिवादी लिबरलों की भाँति इस परिवर्तन को निरा प्राकृतिक चक्रान्तेमि क्रम मानकर चुप नहीं रह जाता। यह परिवर्तन मानवनिर्मित है, इसका उसे पूरा भरोसा है। इसी कारण मार्क्सवाद एक सक्रिय दर्शन है; वह उन मृत दर्शनों में से नहीं जिनमें सिर्फ पुराण-वस्तु-संशोधन ही हो सकता है; कोई नई प्राणवान चेतना शेष नहीं है। और जब यह कहा जाता है कि मार्क्सवाद क्रियाशील कर्मण्य दर्शन है तो उसका अर्थ यह कदापि नहीं कि यह क्रिया ग्रंथ अवेश पर आश्रित, फाशीवादियों की 'क्रिया के लिए क्रिया' (संगठन के लिए संगठन) जैसी है; परन्तु एक वैज्ञानिक की-सी सुनियोजित विचार पर आश्रित, समय परिस्थिति के अनुसार संघटित क्रिया है। इसी कारण मार्क्सवादी दर्शन मृत्यु-पूजक और शून्यवादी दर्शन नहीं। वह आशावादी दर्शन है। आशा प्रयोग और अनुभव पर आश्रित रहती है। मार्क्सवाद संसार के इतिहास का विश्लेषण करके कुछ अनुभव एकत्रित करता है; सामाजिक शक्तियों के महत्त्व को बतलाता है। अतः वह भविष्य के लिए, इतिहास के प्रकाश में, एक नवीन आशा का संचार करता है।

मार्क्सवाद अथवा द्वैतात्मक भौतिकवाद को समझने के लिए यह आवश्यक है कि उसमें के तत्त्व और उसकी तर्क-पद्धति को अलग-अलग करके समझा जाय। मार्क्स ने सत्रहवीं और अठारहवीं शती के यूरोपीय दार्शनिकों का उदार, नवीन ज्ञान को ग्रहण करने वाला दृष्टिकोण अपनाया और उसमें उन्नीसवीं सदी की वैज्ञानिकता मिलाई। इसी कारण बाह्य जगत की वस्तुनिष्ठ आलोचना करके संयत और संतुलित ढंग से क्रियात्मक ज्ञान को मार्क्स ने अपने विचार का आधार बनाया। इस विश्व में विभिन्न तत्त्वों में कैसा परस्पर सम्बन्ध है यह मार्क्स ने देखा—वस्तु-निष्ठ और आत्म-निष्ठ दृष्टिकोण में, जीवित और जड़ पदार्थों में, मानवी स्वभाव और समाज-व्यवस्था में, चेतन मन और अचेतन सृष्टि में। जो द्वैत मानकर पुराने दार्शनिक संतुष्ट हो गये थे, मार्क्स ने उस द्वैत के कवच को थोड़ा और बताया कि इस प्रकार द्वैत की कल्पना करना, आत्म को अनात्म से अलग मानना समस्या से पलायन करना है। हेगेल की भाँति केवल आदर्शवाद की भीनी झिल्ली चढ़ाकर भी समस्या नहीं सुलझती। देखना



होगा कि इन परस्पर विरोधी माने जाने वाले तत्त्वों में कैसा अविरोध है, कैसा परस्परावलम्बन है। खाद अनाज नहीं है, परन्तु खाद के बिना भी अनाज नहीं है। कोरा बीज कुछ नहीं कर सकता—अगर मिट्टी, पानी, क्षार, खाद आदि सब कारण-खण्डों का समवाय न हो और बीज से बनने वाला अनाज का अंकुर जैसे बीजत्व खोता है, वैसे जिस मिट्टी की पर्त के साथ उसे लड़ना पड़ा है उसी में से बहुत सा आत्मसात् कर उसके मिट्टीपन को भी खोने के लिए बाध्य करता है। यों दो के विरोध से तीसरा ही एक विकास उत्पन्न होता है। आज अंग्रेज भारत में डेढ़ सौ वर्ष तक अपने पैर जमा गये। आप कहे कि वे अपने साथ जो रेल, तार और कई आधुनिक वैज्ञानिक सभ्यता की यांत्रिक बातें लाये हैं वे चुटकी से मिटा दी जायें, और फिर हथ 'रामराज्य' की ओर या अशोक-साम्राज्य या शिवाजी की 'हिन्दूपद पादशाही' की ओर लौट चलें तो वह असम्भव है। साहित्य और कला के क्षेत्र में भी चाहे जितनी 'तपस्या' और 'साधना' करो, फिर दूसरा वाल्मीकि, कालिदास या तुलसीदास सम्भव नहीं। उनके गुणों की दुहाई देना भी सार्थक नहीं क्योंकि युग बदला, उसके साथ समस्याएँ भी बदलीं; और शायद आज उन कविश्रेष्ठों में से कोई जीवित होकर आता तो सम्भवतः वह स्वयम् अपने पुराने रूप पर हँसता या सहानुभूतिपूर्वक कहता—'ओह, तब मानव-जाति कैसी शैशवावस्था में थी। समस्याएँ कितनी सरल थीं। आज वाल्मीकि या होमर को, कालिदास या शेक्सपीयर को कथा बाँचकर जनाश्रय या राजाश्रय सहज नहीं मिलता; उसे अपनी काव्यपुस्तक की कितनी आवृत्तियाँ बिकें और उसका प्रकाशक उसे 'कोर्स' करा सका है या नहीं, उसे अमुक-अमुक पुरस्कार प्राप्त है या नहीं आदि बातों का भी विचार करना ही पड़ता है। नहीं तो वह भी किसी 'विसराम' या ईसुरी की तरह कहीं अर्द्धशित रूप से अपनी प्रतिभा की कान्ति से दीप्त, विकसित होता, मुरझा जाता।

मार्क्सवाद के तत्त्वों की भाँति उसकी पद्धति भी भिन्न प्रकार की है। उसमें सृष्टि कर्तृत्व किसी शेषशायी को सौंपकर चैन की नींद नहीं ली जाती। उसमें भौतिक विकास सृष्टि पर जीवजात के आरम्भ का—प्राणीशास्त्र, भूतशास्त्र, बनस्पतिशास्त्र नृ-विकास-शास्त्र के आधार पर सूक्ष्म अध्ययन कर कुछ निर्णयों पर पहुँचा जाता है। उसमें पृथ्वी पर पाप का भार बढ़ते ही श्री विष्णु या श्री शिव (जो भी ड्यूटी पर हों) एकदम अवतार नहीं ले लेते; ऐसे चमत्कारों में किसी भी वैज्ञानिक पद्धति का विश्वास नहीं हुआ करता। उसमें प्रत्येक कार्य का एक कारण होता है। भौतिक कार्य का भौतिक कारण ही हो सकता है। प्रत्येक क्रम से पहिले कुछ घटित हो चुका है। प्रत्येक क्रिया कई क्रिया-प्रतिक्रियाओं का प्रतिफल होती है—और इस प्रकार एक तर्कसंगत सरणि से विचार भी बढ़ा करते हैं। वहाँ फाशीवादी चिन्ता के ढंग पर

सोचने का काम किसी दर्ग, जाति या मुट्ठी भर विशेषज्ञों या उनके अभाव में परमात्मा के चुने हुए, प्रेषितों, तानाशाहों के लिए 'रिज़र्व' नहीं किया जाता। वहाँ सब मन सोचते हैं, सोच सकते हैं, इस बात को मानकर चला जाता है।

सौन्दर्यशास्त्र मनोविज्ञान और समाजविज्ञान से सम्बन्धित एक प्रयोगावस्था में से जाने वाला विज्ञापन है और शुद्ध दर्शनों में उसे स्थान नहीं दिया जाता। और वैसे तो मार्क्सवादी विवेचना-पद्धति पर भी अनेक आक्षेप मिल जायेंगे। मैं मार्क्सवादी तर्क-पद्धति को मानता हूँ इसका अर्थ मैं शब्द प्रामाण्यवादी नहीं हूँ, तथा द्वंद्वात्मक भौतिकवाद में विश्वास करता हूँ, यह स्पष्ट है।

मार्क्सवादी तर्क-पद्धति की निम्न चार विशेषताएँ हैं—(१) 'वस्तु' और 'स्व' का द्वंद्वात्मक सम्बन्ध, (२) राशि का गुणात्मक परिवर्तन, (३) नकार का नकार और (४) इतिहास का भौतिक, वैज्ञानिक विकास-विश्लेषण।

सौन्दर्य-मूल्य की अपेक्षा से प्रथम विशेषता का अर्थ यह है कि सिनार बेनेदेत्तो ओचे मानते हैं वैसे कला केवल आंतरादुःख या शुद्ध 'प्रमा' (इन्ट्यूशन) नहीं हो सकती। विज्ञानवादियों, आदर्शवादियों की या (Existentialists) की गलती 'विवर्त' (सोलिप्सिम) में इस प्रकार हम पहुँचेंगे। शेक्सपीयर की कल्पना अथवा कालिदास की अनुभूति का सौन्दर्य कोई देवायत्त, अतीन्द्रिय घटना नहीं। शेक्सपीयर की या कालिदास की देश-काल-परिस्थिति-विशेष का प्रभाव अवश्य उनके मन पर पड़ा होगा; अन्यथा कलाकार के मन की विशेष-सुकुमारता, अतिसंवेदनशीलता का क्या अर्थ? यह हम मान्य कर सकते हैं कि श्रेष्ठ साहित्यकार अपने युग का निरा फोटो-ग्राफ़र या ध्वनिक्षेपक यंत्र नहीं होता, उसे आगे ठेलता है, इसी में उसकी श्रेष्ठता निहित है। परन्तु यह कहना कि उनकी सौन्दर्य-निर्मित दिक्कालातीत थी या होती ही है, इस बात का कोई प्रमाण नहीं। इससे यह सिद्ध होता है कि अब दुबारा कालिदास, तुलसीदास या प्रेमचन्द की अवतारणा असम्भव है। उन-उन लेखकों या कलाकारों की मानवीयता, उदारता, विद्रोही-वृत्ति आदि गुणों द्वारा उनकी सौन्दर्य-दृष्टि परिमित-निर्णीत अवश्य हुई होगी परन्तु इस कारण से, अन्य व्याप्तियों से, असंपृक्त, केवल आदर्श, सर्व-सामान्य भाववाचक शब्द लेकर उन्हें विश्व के आदिकाल से आज-कल अपरिवर्तनीय, सनातन, शांकरब्रह्मा जैसी कूटस्थमचलमध्रुवम् वृत्तियाँ मानना इतिहास तथा मानव-विकास विज्ञान के विषय में अपना अज्ञान व्यक्त करना है।

राशि का गुणात्मक परिवर्तन सौन्दर्यशास्त्र में भी अवश्य कार्यक्षम है। आदिम मानव की स्थूल, मांशलुब्ध, ऐंद्रियिक सौन्दर्यवृत्ति सभ्यता के विकास के साथ-साथ सूक्ष्मतरंग, अधिक मानसिक तथा नैतिक होती जा रही है और इसी कारण एक भील, गोंड या संथाल अबुलकरीम खाँ के आलाप या पिकासो के चित्र नहीं समझ सकता। परन्तु

भील, गोंड या सथाल के गाणे या नृत्य, हममें से कुछ 'प्यूरिटनों' को छोड़कर, सुसंस्कृत मानव को भी आनन्द देते हैं—यह इस बात की साक्षी है कि हम में अभी भी पशु-वृत्तियाँ विद्यमान हैं; और अभी हम शा के 'राम राज्य' के सेक्स-हीन मानव नहीं बन गये हैं। सौन्दर्यान्द के इस प्रकार शारीरिक वृत्तियों से निबद्ध होने के कारण कई विशुद्ध दार्शनिक इसे दर्शन का अंग नहीं मानते। दर्शन शास्त्र ने (जैसे सांख्य या सूफ़ी) इस प्रकार के सुन्दर सकेतों-प्रतीकों का आश्रय अवश्य लिया है। परन्तु सौन्दर्य के क्षेत्र में सामाजिक यथार्थवाद की चर्चा उन्हें अस्वाभाविक और अप्रिय जान पड़ती है। एक व्यक्ति की सौन्दर्य-कल्पना और एक भीड़ की सौन्दर्य-कल्पना में स्पष्ट भेद है—यह कोई भी मनोवैज्ञानिक मानेगा। भीड़ में व्यक्ति अपनी व्यक्तिकता भूल जाता है; उसमें 'साधारणीकरण' अधिक मात्रा में जागृत होता है; वह अधिक बालश तथा अधिक पशुतुल्य बनता है, ऐसे भी मत मंकडूगल आदि देते हैं। ऐसी स्थिति में सौन्दर्य-सृष्टि और दृष्टि भी समूह में गुणात्मक रूप से परिवर्तित होती ही है यह मानना होगा।

'नकार का नकार' यह सिद्धान्त सौन्दर्य तथा उसके विपरीत असुन्दर के मान-निराण में हमें ध्यान में लेना होगा। ड्यूप्ति की पुस्तक 'कला और अनुभव' में इसकी विस्तृत चर्चा है। वस्तुतः 'असुन्दर' हमारे संस्कार से अधिक क्या है? काव्य में जिन दोषों की चर्चा हमारे रीति-शास्त्री करते थे, वे प्रायः सभी कम-अधिक मात्रा में प्राचीन श्रेष्ठ काव्यों में भी और अधिकांश आधुनिक कविता में मिल जायेंगे, परन्तु इससे क्या उनकी महत्ता कम कही जायगी? परन्तु कहीं-न-कहीं हमें सुन्दर-असुन्दर, सुशुचि-कुशुचि के बीच सीमा रेखा तो खींचनी ही होगी। आस्कर वाइल्ड, पेटर पंथी आलोचक और शिलर-कांट आदि शुद्ध प्रज्ञावादी कलाकार को, सौन्दर्यपूजक को अतीतिमान मान ही नहीं सकते। उनके लेखे 'सुन्दर' और 'सम' के क्षेत्र जैसे एक-दूसरे से स्वतन्त्र हैं। कला नीति-अतीति से परे है। कला का अपना स्वतन्त्र तर्क है। परन्तु वह 'स्वातंत्र्य' अपने आप में कोई अर्थ नहीं रखता, न यह नीति-अतीति से परे वाला नारा ही—'आदमी अपने कंधे पर नहीं चढ़ सकता।' सुन्दर भी अपनी सीमाओं से परे नहीं जा सकता—जहाँ वह सीमा का अतिक्रमण करने का अप्राकृतिक प्रयत्न करेगा वहीं असुन्दरता आ जायगी। परन्तु जैसे कीचड़ कमल की अवश्यम्भावी शर्त है या खाद पौधे के लिए अनिवार्य है, सौन्दर्य-भावना या सौन्दर्य-विचार के पीछे भी अन्य सामाजिक असुन्दरताओं की विवेचना आ ही जाती है—वैयक्तिक नहीं, सामाजिक।

इतिहास के भौतिक वैज्ञानिक विवेचन का साहित्य-कला अथवा अन्य सौन्दर्य-प्रक्रियाओं पर आरोप हमारे कई आलोचक मित्रों को कुपित कर देता है। वे आरोप करते हैं कि क्या शेक्सपीयर की रचना में कोई आर्थिक आश्रय खोजेंगे या कालिदास की शकुंतला में सामंतवादी वृत्ति ही? वे पूछते हैं कि आज तो मजदूर या अछूत के

दुःख-दर्द सुन्दर कला के आलम्बन हो सकते हैं, परन्तु कल जब समानता और जाति विरहित समाज-व्यवस्था बन जायगी, तब इस 'कला का क्या मूल्य होगा ? तब उसे किस स्थापदंड से नापोगे ? और पक्के गाने, केवल रंगों के खेल या परियों की कहानियों आदि के सौन्दर्य की विवेचना इस आर्थिक-भौतिक विवेचना से कैसे की जायगी ? एंगेल्स और पाल अन्स्टे के बीच में "साहित्यालोचना में 'यांत्रिकता और ग्राम्यता' पूर्ण मार्क्सवाद" के विषय में जो विस्तृत पत्र-व्यवहार हुआ है, उसकी ओर में ध्यान दिलाना चाहता हूँ। उत्पादन के साधनों पर जिस वर्ग का स्वामित्व होगा उसके अनुसार साहित्य-कला आदि सौन्दर्य निर्माणात्मक क्रियाओं में भी अवश्य परिवर्तन होता आया है। इतिहास साक्षी है कि किस युग में शासक-समाज ने उत्कृष्ट कला को खरीदने का निज सुख का साधन बनाने का प्रयत्न नहीं किया ? किस युग में सच्चे कलाकार ने इस शोषण और निर्बन्धन के विरुद्ध अपना स्वर ऊँचा नहीं उठाया ? और 'संतन को कहा सीकरी सो काम ?' का आदर आप उतना ही करते हैं कि जितना अनर्त टौलर का सात नाटकों की भूमिका में लिखना—परन्तु एक तानाशाह की बाणी से एक कलाकार की बाणी अधिक काल तक और अधिक दूर तक पहुँचेगी।' इतिहास चमत्कारों की गठरी नहीं। वह एक निरा उत्थान-पतन का 'प्रतीत्यसमुत्पाद' ही नहीं। न ही वह एक आबर्त्स-मात्र है कि स्पेंग्लर की भाँति पुनः प्रलयोन्मुख हो। इतिहास निश्चितरूपेण मानव-जीवन को अधिकाधिक समुन्नत बनाता है। उस दशा में कला के लिए कला, निरे नक्काशीवाले सौन्दर्यवाद का मूल्य क्या रहेगा ? मार्क्स ने एंगेल्स को १८७३ में एक पत्र में लिखा था—'मैंने सांब्यूव की शातोब्रियां पर पुस्तक पढ़ी। मुझे शातोब्रियां हमेशा नापसन्द रहा। इस व्यक्ति को फ्रांस में इसलिए प्रतिष्ठा मिली कि इसने फ्रांसीसी अहंता को गुदगुदाया, अठारहवीं सदी की हलकी अहंता नहीं, परन्तु नये रोमंटिक पोशाक और ताजा सिके शब्दों की सजावट से बनी अहंता का वह प्रतीक है। उस अहंता का अर्थ है झूठी गहराई, बायजरियनों का-सा अतिरेक, भावुकता का छिनालपन, वैभव-प्रदर्शन—एक शब्द में आशय और आकार दोनों में अभूतपूर्व मिथ्या मिश्रण।'।

जर्मन महाकवि गोइटे ने इसी कारण कहा था कि—

‘वाट वेअर आई विदाउट दी ओ माई फ्रेड दी पब्लिक ?

आल माई इम्प्रेसन्स मौनोसोग्ज साइलेंट आल माई जौइज ।’

(अर्थात् हे मेरी मित्र जनता ! मैं तुम्हारे बिना कहाँ रहता ? मेरे सब भाव निरे एकमुखी भाषण होते, और मेरे सब आनन्द सूक रहते, उनका सहभागी कौन होता ?)

और आज का समकालीन फ्रांसीसी क्रांतिकारी प्रगतिशील कवि लुई अरेंगा ने

अपने 'ल यू देल्सा' (१९४३) की भूमिका में स्पष्टतः कहा है—'ज शांते लोमे । इत् मां शां ने से, यू रिफ्यूजे दीत्र । पार की स्तू लोमे मीम दांत ला रंजन दीत्र ईस्त् लू वी ..... तु ई मा स्तू फेमेल अवाई, इत जे बांड पारती यू लां मांद' (अर्थात् मैं मनुष्य के गीत गाता हूँ । और मेरे गीतों का अस्तित्व समाप्त नहीं हो सकता, क्योंकि मनुष्य के ही अस्तित्व का आधार जीवन है । तुम ही मेरे माने हुए कुटुम्ब हो, मैं तुम्हारी ही आँखों से दुनिया को देखता हूँ ।) शहीदों की याद में लिखी एक कविता के अन्त में वह कहता है 'द मं क्वी साई ए नो साइफ हूँ यू फ्रैंश !' (मेरे शब्द प्यासों के लिए ताजे पानी का काम करेंगे !)

वस्तुतः इतिहास के विकास में जिन सामाजिक परिस्थितियों का और घटनाओं का विशेष हाथ रहता है उन्हें न समझने के कारण इतिहास के प्रति एक स्थित्यात्मक दृष्टिकोण होने के कारण, हमारे कई समीक्षक बड़ी भूल कर जाते हैं । और फिर प्रगतिशील आलोचक उन्हीं भूलों को लेकर विज्ञापित करते हैं । इसके लिए मार्क्स और एंगेल्स के साहित्य-कला सम्बन्धी कुछ विचार-सूत्रों का यहाँ अविकल अनुवाद देना अधिक उपयुक्त होगा—

#### इतिहास और आर्थिक कारण

फ्रेड्रिक एंगेल्स के कान्ड डिमिट को २७ अक्टूबर, १८६० को लिखे पत्र से—'यद्यपि प्रकृति के अधिकाधिक विकसित ज्ञान के मूल में आर्थिक कारण ही प्रमुख थे, तथापि मानव-जाति के आदिम विकास-काल में भूत-प्रेत में विश्वास, जादू-टोने के चलन इत्यादि के मूल में आर्थिक कारण खोजने बैठना सचमुच निरा पौस्तक व्यवसाय होगा । विज्ञान का आरम्भ इससे हुआ अवश्य, परन्तु ज्यों-ज्यों समाज की आर्थिक उत्पादन-व्यवस्था बदलती गई, संस्कृति का रूप बदलता गया । उदाहरणार्थ अठारहवीं सदी में फ्रांस और जर्मनी में, दर्शन-साहित्य कला का विकास आर्थिक विकास के साथ-साथ चला । उस समय के आर्थिक प्रभावों का सूक्ष्म अपरोक्ष प्रतिबिंब उस समय के दर्शन-विज्ञान विचारधारा में भी मिलता है । इस प्रकार आर्थिक कारण कुछ एकदम नया या चमत्कारिक निर्माण नहीं कर देते परन्तु ऐसी परिस्थिति की जमीन बना देते हैं कि जिससे विचारधारा बनती है, और आगे बदलती या बढ़ती है । राजनैतिक, वैधानिक, नैतिक क्रिया-प्रतिक्रिया का ऐसा सिलसिला बन जाता है कि जिनका विचार-क्षेत्र पर प्रभाव पड़ता ही है । ..... आर्थिक कारणों से तात्पर्य समूची उत्पादन-व्यवस्था से है । वही इतिहास के विकास को निश्चित करती है । हमारी जाति-वर्ण आदि सभी आर्थिक तत्त्व हैं । जब यह कहा जाता है कि राजनैतिक, वैधानिक, दार्शनिक, धार्मिक, साहित्यिक, कलात्मक विकास अंततः आर्थिक विकास पर अवलंबित हैं तब उसका अर्थ यह है कि यह सब विकास एक दूसरे को प्रभावित करते

रहते हैं। आर्थिक कारण अकेला कारण नहीं। सभी कारण कार्यशील होते रहते हैं; परन्तु आर्थिक आवश्यकता अंततः अपने आपको सबसे अधिक प्रभावशाली बना लेती है। राज्य-व्यवस्था भी उससे नियोजित होती है। मनुष्य अपने इतिहास का स्वयं निर्माता है। परन्तु अभी वह स्थिति नहीं आ पाई है। आज तो मानव मानव के स्वार्थों में संघर्ष होता रहता है। कारण, अभी समाज-व्यवस्था आवश्यकताओं से शासित है, जो कि अलग-अलग 'अकस्मातों' (एक्सीडेंट्स) के रूप में प्रकट होती रहती हैं। यह आवश्यकता आर्थिक है। यहाँ महापुरुषों का निर्माण सम्भव होता है। वे समाज-व्यवस्था को बदलना चाहते हैं, परन्तु वे अपनी ही परिस्थितियों की उपज होते हैं। एक महापुरुष को यदि उसके देश-भाल परिस्थिति से अलग निकालकर देखें तो उसकी महत्ता नष्ट होने का भय है, और इसी प्रकार से यदि वह महापुरुष न भी हो तो अन्य हो सकता था।

सौन्दर्य के नियमों के अनुसार सचेतन उत्पादन और रचना

कार्ल मार्क्स के 'ओर्गैनीकौमिश-फिलासाफिचे मैन्युक्रिप्टे आउस डेम जाहरे १८४४' से—'मनुष्य अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक सचेतन रचना करता है, यह मनुष्येतर सृष्टि और सचेतन प्रकृति की रचना के अध्ययन से स्पष्ट होगा। सचेतन से तात्पर्य है कि मनुष्य अपने प्रति उसी प्रकार व्यवहार करता है जैसे अपनी जाति के अन्य प्राणियों के प्रति, और अन्य प्राणियों के प्रति उसी प्रकार से पेश आता है जैसे अपने आप से। वैसे तो, पशु-पक्षी भी रचना करते हैं। छतें, घोंसले, खोह, मकान-जैसी चीजें मधुमक्खियाँ, बया, चींटी वगैरह बनाते ही हैं। परन्तु वे केवल अपने या अपने बाल-बच्चों की तात्कालिक आवश्यकताओं के लिए एकांगी उत्पादन करते हैं, मनुष्य सार्वजनिक और सर्वोपयोगी रचना करता है। पशु-पक्षी शारीरिक आवश्यकताओं से परे, और वस्तुतः इन आवश्यकताओं से जब छुट्टी पा लेता है, तभी रचना करता है। पशु-पक्षियों आदि प्राणिजातों में केवल स्वयं निर्माण करने की क्षमता है, मनुष्य तो पूरी प्रकृति को पुनर्निर्मित करता है, मथ डालता है। उनकी रचना उनके शरीर से सम्बन्धित रहती है, मनुष्य अपनी रचना का स्वतन्त्र रूप से उपयोग करता है। पशु अपनी जाति की नाप और माँग के अनुसार रचते हैं, मनुष्य सब जातियों की माँग के और नाप के अनुसार रचता है—इतना ही नहीं अपनी वस्तु का वास्तविक नाप कहीं भी पहुँचा सकता है। अतः मनुष्य भी सौन्दर्य के नियमों से रचना करता है।'

कला के मूल में श्रम का महत्त्व

फ्रेड्रिक एंगेल्स—'प्रकृति की द्वंद्वात्मकता' में—जिस दिन पहली बार मानव ने चकमक के पत्थर पर पत्थर रगड़कर अग्नि की चिनगारी पैदा की, तब से चाकू बनाने तक बहुत सा काल बीत गया होगा। परन्तु एक महत्त्वपूर्ण घटना इस बीच में

हुई—हाथ सुन्नत हो गया। इसका अर्थ यह हुआ कि हाथ अब सिर्फ चकमक नहीं रगड़ेगा, वह अधिक कुशलता और कलात्मकता ग्रहण करने लगा, जो कि पीढ़ी दर पीढ़ी बढ़ती गई। इस प्रकार हाथ न सिर्फ श्रम का एक अस्त्र है, परन्तु श्रम से उत्पन्न एक वस्तु भी है। ज्यों-ज्यों श्रम अपना रूप बदलता गया, हाथ की कला भी बढ़ती गई, हाथ की कुशलता ने भी अपना रूप ग्रहण किया। यों नव-नवीन प्रक्रियाएँ सीख-सीखकर, उनका वंश-परम्परागत सामाजिकीकरण होते-होते मांस-पेशियाँ, शिराएँ, बाद में हड्डियाँ तक अधिक संतुलित होती गईं, और मानव और भी उलभे हुए, और भी सूक्ष्म और पहले असम्भव जान पड़ने वाले व्यापार करने लगा—यहाँ तक कि मनुष्य की कला अधिकाधिक पूर्णता ग्रहण करने लगी और वही आज राफाएल के चित्रों, थॉरवाल्डसेन की मूर्तियों और पैगेंनिनी के संगीत के रूप में हमें दिखाई देती है।

### सौन्दर्य-वृत्ति का विकास

कार्ल मार्क्स उसी ऊपर उल्लेख किये ग्रंथ में—‘संगीत से मनुष्य की संगीत-ग्राहक वृत्ति जागती है। सबसे अच्छा पक्का गाना भी जिसके गाना समझने के कान नहीं हैं उसके लिए निरर्थक है। इसलिए मेरी अपनी शक्ति और योग्यता पर बाह्य जगत् की रस-ग्रहण-शीलता निर्भर करेगी। और यह मेरी शक्ति इन्द्रियानुभूति की भी शक्ति कहाँ से बनी और जगी है? मानव-जाति की बढ़ती हुई वस्तुनिष्ठ संवेदनशीलता से ही न! केवल पाँच ज्ञानेन्द्रिय नहीं परन्तु हमारी कर्मेन्द्रिय भी (यहाँ तक कि संकल्प, अनुराग आदि भी) संक्षेप में मानवी संवेदनशीलता और संवेदनशीलता की सृष्टि मनुष्य के वस्तु-ज्ञान पर, मानव-कृति प्रकृति-विजय पर निर्भर है। यह पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ आज जैसे बनी हैं, वह समूची मानव-जाति के इतिहास से निर्मित हैं। वे इन्द्रियाँ जो कि स्थूल व्यावहारिक आवश्यकताओं से सीमित थीं, उनका अर्थ भी सीमित था—जैसे भूखे आदमी के लिए खाद्य का मानवीकृत रूप कोई अर्थ नहीं रखता—उसे तो केवल खाद्य का क्षुधा-निवारक रूप ही यथेष्ट है; उसे किसी खराब-खराब रूप में भी वह ग्रहण कर सकता है, और वृभुक्षित और पशु के खाने में जैसे फर्क नहीं रह जाता उसी प्रकार चितित गरीबी से पीड़ित व्यक्ति के लिए उत्तम-से-उत्तम नाटक बेमाने हैं; और जो धातु का दलाल है उसे उस पीतल के बाज़ार दर से मतलब रहता है, न कि उस पीतल में किये भास्कर्य के सौन्दर्य या मौलिकता से। यहाँ तक कि उस धातु-व्यापारी को धातु-विज्ञान का भी ज्ञान नहीं होता। अर्थात् मानवी अस्तित्व का वस्तु-करण सैद्धान्तिक और क्रियात्मक रूप से हमारी इन्द्रियों को मानवीय बनाता है और मानवी और प्राकृतिक जीवन की विशद समृद्धि के समतुल्य मानकी में नवीन, इन्द्रियाँ या संवेदनशील वृत्ति को विकसित कराता है।’ अंतिम वाक्य का पूरा भावार्थ अनुवाद में नहीं आ पाया इसलिए मूल का अंग्रेजी अनुवाद वाक्य देता हूँ—‘हेन्स दी आब्जेक्टवाइ-

ब्रेशन ऑफ़ ह्यूमन एडिजस्टेन्स, बोथ इन दि थियोरिटिकल एण्ड प्रेक्टिकल वे, मीन्स मेकिंग मैस सेन्सेज ह्यूमन ऐज वेल ऐज क्रिएटिंग ह्यूमन सेन्सेज कारस्पान्डिंग टु दी वास्ट रिचनेस ऑफ़ ह्यूमन एंड नैचरल लाइफ़ ।'

प्राचीन रूपों को कहाँ तक अपनाया जाय ?

कार्ल मार्क्स फर्डिनेंड लासाल की २२ जुलाई, १८६१ के पत्र में—'तुमने सिद्ध किया है कि रोमन विधान को अपनाना गलतफ़हमी पर आधारित था । परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उसी विधान का आज का रूप—आज के विधानशास्त्री चाहे जितना पुनः रोमन विधान की गलतियों के आधार पर उसे ढालने की कोशिश क्यों न करते रहे हों तो भी रोमन विधान का गलत रूप है । इस प्रकार तो आने वाले युग द्वारा अपने से पहले युग का कोई भी रूप-ग्रहण गलत ग्रहण किया हुआ प्राचीन रूप कहलायेगा । लुई चौदहवें के काल के फ्रांसीसी नाटककार जिन त्रिसंधियों का प्रयोग करते थे, वह सिद्धान्त-रूप से यूनानी नाटकों में अरस्तू द्वारा बताई त्रिसंधियों का गलत प्रयोग था, परन्तु उन्होंने उन तीन संधियों का अपने काल की फल की आवश्यकता के अनुसार उपयोग कर लिया था, उन्हें अपने युग में ढाल लिया था । इसी कारण डेसियर आदि के अरस्तू का सही-सही अर्थ देने के बाद भी वे अपने 'क्लासिकल' नाटकों से चिपटे रहे । उसी प्रकार से आज के कई आधुनिक विधान अंग्रेजी विधान के गलत समझे हुए रूप मात्र हैं । उदाहरणार्थ उत्तरदायी 'कैबिनेट' या प्रतिनिधि-परिषद् जो कि इंग्लैंड से भी नष्ट-प्राय हो गई और आज केवल ढाँचे के रूप में शेष है । इस प्रकार जिसे हम प्राचीन रूप या रीति का गलत अपनाना कहते हैं, वह वस्तुतः उसका साधारणीकरण होता है, और समाज के विकास की एक अवस्था में केवल वही साधारण रूप सम्भव होता है ।

कुत ब्लाडकाफ़ ने अपने लेख 'फ्रेड्रिक एंगेल्स और भौतिकवादी सौन्दर्य-शास्त्र' में (मार्डर्न क्वार्टर्सी, ग्रीष्म १९४६ में प्रकाशित) एंगेल्स ने कान्ज डिमड्ट को ५ अगस्त, १८९० में भेजे एक पत्र का अवतरण दिया है, जो हिन्दी के उन प्रगतिशील आलोचकों के लिए भी बहुत पठनीय है, जो भौतिकवाद को संकुचित अर्थ में लेते हैं—'हमारे कई तरुण लेखकों को भौतिकवादी' शब्द एक रामबाण की भाँति जान पड़ता है जो कि बिना विशेष अध्ययन के वे चाहे जिस चीज पर चाहे जहाँ प्रयुक्त कर देते हैं । हमारी इतिहास की कल्पना हमें आगे और अध्ययन के लिए प्रेरित करे ऐसी होनी चाहिए और केवल हेगेल-पंथियों की भाँति यांत्रिक पुर्जे का रूप नहीं होनी चाहिए । सभी इतिहास नये सिरे से पढ़ना होगा, समाज-विकास की सभी परिस्थितियों का विचार करना होगा । अलग-अलग से और एक साथ ; और तभी उसमें से राजनैतिक, सामाजिक, सौन्दर्य-विषयक, धार्मिक-दार्शनिक निर्णय हम निकाल सकेंगे ।'



इस प्रकार भौतिकवादी सौन्दर्य-शास्त्र के अध्येता के लिए एंगेल्स ने दो विचार-बिन्दु प्रधान रूप से दिये हैं—(१) रूपात्मक पक्ष का विचार; अर्थात् वैचारिक पूर्वग्रह कैसे बनते हैं और (२) समाज के आधार और बाह्य रूप में कैसे परस्पर-संघात होता है।

उसी प्रकार से साहित्य में वास्तववाद या यथार्थवाद का अर्थ नग्न, भड़कीले वर्णन कदापि नहीं। एंगेल्स ने कुमारी हार्कनेस को उसके उपन्यास 'शहराती लड़की' (१८८८) की आलोचना में लिखा था कि—'लेखक अपने विचारों को जितना छिपाये रखे, उभरने न दे, उतनी ही कला अच्छी होगी।' कला में प्रचार किस हद तक हो, कला में जो यथार्थ दिखाया जाता है उसे जनता कहाँ तक समझती है, यह केवल हमारे देश के ही प्रश्न नहीं, फ्रांस में भी इस पर अभी भी बहुत वाद-विवाद होता रहता है।

साहित्य और कला में अन्ततः शैली भी पूँजीवादी समाज-व्यवस्था में कैसे नियन्त्रित हो जाती है, इसका चित्र मार्क्स ने 'यूबट डाई न्यूएस्टे प्रतिश्चे जेनसुरिनस्टू, क्लान' में व्यंगमयी शैली में खींचा है—“मेरी संपत्ति है मेरा रूप, वह मेरा आध्यात्मिक व्यक्तित्व है। शैली ही व्यक्ति है। सो कैसे ! क्लानून मुझे लिखने देगा, इसी शर्त पर कि मैं ऐसी शैली में लिखूँ जो मेरी अपनी नहीं है; मुझे अपने भावों का चेहरा दिखाने की छूट तो है परन्तु पहले उस चेहरे को मैं सरकारी साँचे के अनुसार बना लूँ। कौन प्रतिष्ठित व्यक्ति इस कल्पना से नहीं लजायेगा और अपना चेहरा चोगे के नीचे छिपा नहीं लेगा ? मैं हास्यरस का लेखक हूँ, तो क्लानून मुझे गम्भीर लिखने के लिए बाध्य करता है। मैं बहुत वीरतापूर्ण लिखने वाला हूँ, पर क्लानून की आज्ञा है कि मैं नम्रता से लिखूँ। आत्मा का स्वभाव है सत्य; और आप उससे चाहते हैं नम्रता ? गोइटे का कहना है कि जो बनता है वही नम्र होता है; और आप आत्मा या भावना को यों ढोंगी बनाना चाहते हैं ? और यदि नम्रता से तात्पर्य शिला कहते थे उस ऊँची सच्ची नम्रता से हो तो फिर आप अपने सब नागरिकों को और सेन्सरो को महान् प्रतिभावान् देवदूतों में पहिले परिवर्तित कीजिए।”

अन्त में मार्क्सवादी विचारधारा और सौन्दर्यशास्त्र के इस विवेचन के भविष्य पर मैं श्री शिवदानसिंह चौहान के नव प्रकाशित 'साहित्य की परख' के प्रथम निबन्ध के बहुत सुन्दर विवेचन की ओर इंगित कर, उसमें के अन्तिम परिच्छेद के दो वाक्य देना चाहता हूँ—“किसी एक विचारक के विचारों को हिन्दी पाठकों के सामने पटककर के यह दुराग्रह करना कि साहित्य यह है या वह है, उसका लक्ष्य, प्रयोजन, संविधायक कर्म या सौन्दर्यमूल्य यह है या वह है, वैज्ञानिक आलोचना का दृष्टिकोण नहीं हो सकता और न सार-संचयन की भावना से किया गया विभिन्न दृष्टिकोणों का बलात् संयोग ही समन्वय कहा जा सकता है। समन्वय अवश्य होना चाहिए, और

मेरा विचार है कि प्रगतिवाद ने समन्वय के लिए व्यापक क्षेत्र तैयार किया है और उसमें समन्वित दृष्टिकोण के रूप में विकास करने की संभावनाएँ भी मौजूद हैं।” मे शिवदानसिंह जी-से यहाँ तक सहमत हूँ; परन्तु इसके बाद भी कुछ सौन्दर्य के मनोवैज्ञानिक पक्ष रह जाते हैं जो नवीन मनोविज्ञान ने अवचेतन-मन के अवगाहन के बाद प्राप्त किये हैं। मार्क्स के समय उनका विचार असम्भव था। तब तक मनोविज्ञान काफ़ी व्यक्तिवादी और विश्लेषणात्मक के रूप में, अविहारित दशा में था। आज उसने और अधिक प्रगति कर ली है। अतः मार्क्स के सामाजिक विश्लेषण को मान्य करते हुए भी, हमें उसके साहित्य-कला के मूलारम्भ के विषय में, कलाकार के मन की स्वप्न-प्रक्रियाओं के विषय में दिये गये निर्णयों को अन्तिम नहीं मानना चाहिए। उन्हें नये ज्ञान-विज्ञान के पार्श्व में परखना होगा। परन्तु मार्क्स की दी हुई तर्क-पद्धति यहाँ पर भी बहुत उपयोगी सिद्ध होगी।

## औचित्य क्या

प्रश्न १—आपकी दृष्टि में शास्त्रीय आलोचना का मूल्य क्या है ?

उत्तर—प्रश्न में 'आप' और 'शास्त्रीय' और 'मूल्य' यह तीनों शब्द सापेक्ष, अतः चिन्त्य है। 'आप से' क्या तात्पर्य है ? मान-लीजिये मैं एक सन्त कवि हूँ, तो मुझे आपकी शास्त्रीय-अशास्त्रीय आलोचना से क्या काम ? या कि मैं एक छायावादी-रहस्यवादी हूँ, तो भी आपकी शास्त्रीय आलोचकों की पकड़ में न आ पाने में ही मैं अपना गौरव अनुभव करूँगा। परन्तु यदि मैं जैनेन्द्र के समान केवल अ-बुद्धिवादी (अतः शास्त्रीयता में अविश्वासी) नहीं हूँ तो मुझे आलोचना मात्र को मूल्य देना होगा।

मनोविज्ञान में बुद्धि (Intelligence) का एक लक्षण माना गया है आत्मालोचन (Auto-criticism) वैसे यह युग ही आलोचना का है, यदि वांट की बात मान लें। मेरे मत से पूछें तो वह आलोचना आलोचना कहलाने के लिए ही अपात्र है जो शास्त्रीय नहीं है। आये-दिन अखबारों में परिचय (नोटिस), संक्षिप्त निरीक्षण (रिव्यू) गुण-दोष-विवेचन (स्कूटिनी), प्रशंसा (एप्रोसिएशन) और निन्दा (लैशिंग) आदि कई साहित्य प्रकार गलती से आलोचना माने जाते हैं। समालोचना या समीक्षा (क्रिटिसिज्म) केवल गुण-दोष-विवेचन से कुछ अधिक है। वह एक निर्णय भी है। वह एक मूल्य-निर्धारण-पद्धति भी है इस दृष्टि से शास्त्र की सीमा है। शास्त्र अथवा विज्ञान केवल निरीक्षण-परीक्षण, प्रयोग, अनुष्ति, तुलना आदि पद्धतियों से आलोच्य वस्तु (ग्रन्थ अथवा ग्रन्थकार) का विश्लेषण मात्र प्रस्तुत करता है। मेंढक की चीर-फाड़ करने वाले प्राणीशास्त्रज्ञ के मन में मेंढक के प्रति सहानुभूति अपेक्षित नहीं है। दूसरी चीज जो शास्त्र अपने विश्लेषण के आग्रह में भूल जाता है, वह है सामग्र्य का अभाव। विज्ञान टुकड़ों में विभक्त सत्य देखता है। समग्र जीवन्त रसमय सत्य उसके सामने नहीं होता। इलियट के 'ईथराइज्ड पेशेंट लाइंग आन ए टेबल' की भाँति ही सत्य उसकी वैज्ञानिकता को सुँघाकर, उसकी इच्छानुसार ही उसकी खुर्दबीन के सामने आता है। साहित्य के हक में यह स्थिति विशेष सुखद नहीं है।

असल में विज्ञान एक ओर और दर्शन दूसरी ओर और बीच में है साहित्य। विज्ञान वास्तव को अधिकाधिक जानता है, दर्शन सत्य के अन्तिम छोर के अनुभव के

लिह छटपटाता है, साहित्य चाहता है कि आदर्श और यथार्थ का वास्तव और सत्य का एक रसभासमय समन्वय उपस्थित करे। अगर आप दार्शनिक शब्दावली के उपयोग से परहेज न करें तो विज्ञान Reality, दर्शन Truth और साहित्य Appearance को पकड़ने की कोशिश में है।

जैसे साध्यों में अन्तर है, साधनों में भी अन्तर है, विज्ञान का मार्ग मस्तिष्क का, विचार का, तर्कना का है; दर्शन का मार्ग आत्मानुभूति का राग-विराग, बोध-अनुबोध के परे की Intuition का है; और साहित्य का मार्ग भावना का, हृदय के आवेग संवेगों का है। मूलतः तीनों किगाएँ परस्पर-परिपोषक हैं विज्ञान का कर्मयोग, दर्शन का ज्ञानयोग और साहित्य (काव्य) का भक्तियोग। ये परस्परपूरक ही हैं। यदि चेतना को एक अन्तः सलिला प्रवाह मान लिया जाय, तो साहित्य की गुप्त सरस्वती सौन्दर्य की सेविका है। दर्शन की गंगा सत्य से मिलने जा रही है। विज्ञान की यमुना भी उसी का सहयोग दे रही है।

क्षमा कीजिये, त्रिवेणी-संगम और योग-भेदों के पुराने ही रूपकों का मैंने सहारा लिया है। परन्तु साहित्य-कला के मूल्य-निर्धारण में मैं स्पष्टतः दो पक्ष प्रमुख देखता हूँ, एक उनका जो साहित्य-कला को साहित्य-कला के ही अपने तर्क और मानदण्डों से नापना-जाँचना चाहते हैं; दूसरा उनका जो साहित्य-कला को उससे बाहर के किन्हीं अन्य (चाहे राजनैतिक या आर्थिक या ऐतिहासिक या नैतिक या धार्मिक हों) मानों से नापना चाहते हैं। मैं पहले मत के पक्ष में हूँ।

परन्तु चूँकि आज ज्ञान-विज्ञान और कला-साहित्य कुछ कटी-छँटी चीजें नहीं रही हैं; और साहित्य-सर्जना तथा आलोचना ये दोनों पक्ष भी अभिन्न होते जा रहे हैं, मेरा अपना मत है कि साहित्यालोचन के क्षेत्र में दो विज्ञानों का सहयोग बहुत आवश्यक है। चूँकि समस्त कला, व्यक्ति कलाकार के मन से निकलकर समाज में जाकर मिलती है, मिटती है—अतः मनोविज्ञान और समाजविज्ञान का अध्ययन उसके नवजीवन आविष्कारों से अभिज्ञता आलोचक की एक प्राथमिक शर्त है। राबर्ट ओसवर्न ने अपने 'फ़ायड एंड मार्क्स' ग्रन्थ में भी यही बात प्रमाणित की है कि ये दोनों ही चिन्तक परस्पर पूरक थे, न कि जैसे काडवेल अपने एकांतिक आवेश में 'स्टडीज इन डाइंग कल्चर' में 'फ़ायड' प्रकरण में उसे 'रुग्ण और ह्लासोन्मुख उच्च-वर्ग का चारण' मात्र मानता है।

मेरी अल्पसति में आज का आलोचक इन दो चिन्तकों से मूल्य-निर्धारण में बहुत कुछ सहायता प्राप्त करेगा। क्योंकि आज मूल्य-निर्धारण यह विषय केवल वैयक्तिक रुचि-अरुचि का न रहकर सार्वनीन विषय बन चुका है।

प्रश्न २—क्या आनन्द स्वयम् आलोचना का एक मूल्य हो सकता है ?

इस मत को मानने वाले 'ब्रह्मानन्दसहोदरवादी' कम नहीं हैं। इसमें 'स्वान्तः-सुखाय' वाले तुलसी से सन्त नीति-शास्त्र को सुखवाद (हीडोनिज्म) में परिवर्तित करने वाले उपयोगितावादी और आचारवादी (यूटिलिटेरियनिस्ट्स और प्रोमैटिस्ट्स) तथा कुछ बोजाँके जैसे आदर्शवादी दार्शनिकों से लगाकर कला को एक अनुत्तरद्वयित्व-पूर्ण, असामाजिक, व्यक्ति की इच्छा-अनिच्छा का विषय मानने वाले कवियों तक सब शामिल हैं।

आनन्द को आलोचना का मापदण्ड मानने वालों में मुख्यतः दो दल हैं—एक तो ऐन्ड्रेयिक इच्छापूर्ति मात्र को आनन्द मानने वाले, जैसे मनोवैज्ञानिक सौन्दर्यवादी; दूसरे उससे ज़रा ऊँचे सार्वजनीन सुख की अधिष्ठात्री कला को मानने वाले ब्रिटिश या अमरीकन उपयोगितावादी। पहले वर्ग के समर्थन में अंग्रेजी साहित्य में आस्कर वाइल्ड, वाल्टर पेटर आदि 'कला-के-लिए-कला'-वादी कई दिनों तक फैशनबल माने गये। फिर मनोविज्ञान ने आकर उन पर प्रहार किया कि ये तो स्व-रस्यात्मकता या आत्मसम्भोग (नारसिज्म) का ही प्रचार कर रहे हैं। 'मोनिस्ट' एक दार्शनिकों का पत्र था। उसके जौलाई १९२६ के अंक में १९१४-२६ के बीच के सौन्दर्य विज्ञान सम्बन्धी फ्रांस में हुए अन्वेषणों का संक्षिप्त लेखा-जोखा मेरीज़ चौइज़ ने दिया है। उनके अनुसार कला के मूलाधार आनन्द की कई मज्जेदार उत्पत्तियाँ हैं, यथा—

(क) ज्यूल्स व गॉल्सेयर के मतानुसार मानव में आरम्भ में 'सेंसिबिलिती मेसियाँनीक' (अर्थात् मसीहा बनने की प्रवृत्ति) रहती है, जो धीरे-धीरे विकासवाद के अनुसार 'सेंसिबिलिती स्पेक्टॉकुलर' (अर्थात् केवल दर्शक बनकर आनन्द ग्रहण की प्रवृत्ति) में परिवर्तित होती है। व्यक्ति में संवेदना (सेंसेशन) से अनुबोध (पर्सेंशन) में परिवर्तन इसी का प्रमाण है। विकास के तत्त्व की दृष्टि से 'सत्य' यह अन्तिम मूल्य न रहकर धीरे-धीरे वह 'सौन्दर्य' में परिवर्तित होझा।

(ख) मोशिथे लासो के मत से मूल्य-निर्धारण के समय हमें सर्वसाधारण के मूल्य को आधार मानना चाहिये। उनके मत से कला का जीवन में पाँच प्रकार का योगदान है—(१) वास्तव से पलायन, (२) परिष्कार (कैथेसिस), (३) अश्लील या अश्लाघ्य को टाँककर सँवारकर रखने की प्रवृत्ति, (४) केवल कला की प्रक्रिया में आनन्द और (५) सरल यथार्थ की पुनर्स्थापना का प्रयत्न।

(ग) मो. एच. दालेक्राई के मत से सौन्दर्य-विषयक भावना के मूलारम्भ में सदा कुछ ऐन्ड्रेयिक तत्त्व विद्यमान रहता है, यद्यपि उसका कल्पना तथा स्वप्न द्वारा बौद्धिकीकरण (Intellectualizing) कम महत्त्व का नहीं। यथा भाषा का जन्म।

(घ) मो. ए. दज़ार्त और माँ. पौलहँन के मत से जब प्राकृतिक प्रेम सामाजिक

कृत्रिमताओं से आवद्ध और निरुद्ध होता है; तब वर्जनाएँ हमारे जीवन के आस-पास खड़ी हो जाती हैं। इन्हीं निरुद्ध और अवरुद्ध आकांक्षाओं में से कला जन्म लेती है।

(ड) हेन्साड, डा० विशौत, आदि कला को अवश्चेतन की स्वप्नकलि मानते हैं। और चार्ल्स बोर्दोई तो फ्रायड के ही मत की परिपुष्टि करता है कि कला द्वारा आत्महनन की प्रवृत्ति को कलाकार मुक्त करता है।

(च) गौमों-बन्धु कला को सुख की शोध मानते हैं। यह सुख आसपास और चहुँ ओर से समझीते में, अभेदानुभव में है। अतः कला अमरत्व की इच्छा तथा प्रजनन द्वारा पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपने आपको बनाये रखने की इच्छा के समकक्ष है।

(छ) फ्यूचरिस्ट (यथा मैरिनेट्टी) कला-चिन्ता में गतितत्व को प्राधान्य देते हैं। सुररियलिस्ट (यथा फिलिप सौपौल्ट, जोसेफ डेल्टैल आदि) संक्षिप्तता तथा आवेगात्मक अभिव्यंजना (Impulsive expression) को।

[इन मतों के साथ ही साथ छठी अन्तर्राष्ट्रीय दर्शन परिषद् के वृत्तान्त में पृ० ४३७ से पृ० ४५५ तक जो तीन महत्त्व के लेख हैं, उन्हें भी इस विषय के अध्येता को पढ़ जाना चाहिये। वे हैं :

Wish-Fulfillment and Intuition in Art.

(By—D. W. N. Parker)

The Foundations of Aesthetics

(By—E. P. Nowes)

Objective Form and its Role in Aesthetics.

(By—I. G. Cambell)]

कला-समीक्षा में आनन्दवाद अथवा सुखवाद का सर्वोत्तम समर्थन हेनरा रजर्स मार्शल की एक पचास वर्ष पुरानी पुस्तक 'Pain, Pleasure and Aesthetics' में विस्तारपूर्वक मिलता है। विशेषतः उसके अन्तिम अध्याय Alge-donic Aesthetics में जहाँ कि वह नीतिशास्त्र की उसी पुरानी मान्यता को दुहराता है कि 'अच्छा वही है जो सुखदायक है, और जो सुखदायक है वही अच्छा है—शिवम् आनन्दम् एक है।'।

इस 'सौन्दर्यशास्त्रगत सुखवाद' की तर्कयुक्त सुन्दर धज्जियाँ उड़ाई है जॉन डिबी ने अपने एक नये ग्रन्थ 'Art as Experience' के ग्यारहवें अध्याय में। संक्षेप में उसके मतानुसार यह आनन्दवाद इसलिए टिक नहीं सकता कि—

क. सौन्दर्य वही क्यों जो हमारी उच्चतर इन्द्रिय-संवेदनाओं को व्यक्त करे? पक्का गाना तो सौन्दर्य का विषय है क्योंकि उसमें परिष्कृत शक्ति का प्रश्न है; पक्का खाना सुन्दर क्यों नहीं?—वह भी तो आनन्द देता है। पाक-कला क्यों नहीं ललित-

कला; क्यों वह उपयोगी कला है ?

ख. यदि कला को क्रीड़ा मानकर आनन्द ही उसका उद्देश्य माना जाय, तो सभी खेल तो कलात्मक नहीं होते। उदाहरणार्थ, मृगया या मनुष्यों का मनुष्यों द्वारा प्रपीड़न की (ग्लैडियेटरों के रोमन खेल)। और इस क्रीड़ा की इच्छासात्र से तो कोई नीति निर्धारित नहीं होगी ?

ग. सुखवादी कला को शृङ्गार और वीर-रस की आदिम भावनाओं से जोड़ते हैं। यह बात आदिम-मानव के सम्बन्ध में कहाँ तक सच मालूम जाय, यह स्वयं सन्देहास्पद है। कहरा क्यों नहीं है आदिम कला-त्त्विकार और उससे कैसी आनन्दो-पलब्धि होती है ?

घ. यदि सौन्दर्य-विज्ञान एक सहानुभव पर आश्रित वस्तु है, तो उसमें व्यक्ति की सुखैषणा ही कला का आद्यंत है यह सिद्धान्त कैसे टिक सकता है ? दो व्यक्ति क्यों एक ही चीज में आनन्द मानें ?

ङ. कांट आदि बुद्धिवादी सौन्दर्य को राग-विराग के परे की वृत्ति मानते हैं। मूल्य-निर्धारण में ऐसी मानसिक तटस्थता आवश्यक है। जहाँ आनन्दादि आलोच्य वस्तु से तादात्म्य कराने वाली भावुक वृत्तियाँ हैं, वहाँ मूल्य-निर्धारण कैसे सम्भव है ?

अतः इस विवाद को आगे न बढ़ाकर मैं बर्नर्ड बोर्जाके के 'थी लेक्चर्स ऑन एस्थेटिक्स' के एक वाक्य को आधार मानता हूँ कि 'सच्चा आलोचक वही है जो कि योग्य प्रकार से कलाकृति द्वारा आनन्द ग्रहण कराना सिखाये। मधुमक्षिका की भाँति वह फूलों का पराग एकत्रित कर शहद-सा सुनहरा और मीठा सत्य सब को दे। परन्तु वह स्वयं अगर मधु में डूबा रहा, तो उसकी मृत्यु वहीं निश्चित है।'

फिर यहाँ साँत बूँह की एक बात भी मुझे जँचती है कि 'प्रकृति विविधता से भरी हुई है। प्रतिभा के रूप अनेक हैं। फिर ऐ आलोचक ! तू ही क्यों एक ही 'कांट' (पैटर्न) का आग्रह धरता है।' (लोकी क्रिटिकी, पृ० ४१५)

रविबाबू ने अपने 'सृजनात्मक अभेद' में 'कलाकार के धर्म' में इस औपनिषदिक 'आनन्दमरूपमभूतम्' मन्त्र को बहुत बार दुहराया है। परन्तु क्या कलाकृति का मूल्य इसी से कम हो जाता है कि बजाय वह मीठी-मीठी गुदगुदी आपको देने के, थप्पड़ देती है, चोट करती है या वितृष्णा से आपका मन भर देती है ?

प्रश्न ३—सौन्दर्य के साथ क्या उपयोगिता और आचार का प्रश्न सम्बद्ध किया जा सकता है ?

पुनः यह प्रश्न साहित्य के क्षेत्र के बाहर का है। जहाँ पिछला प्रश्न मनो-विज्ञान के क्षेत्र का था, यह नीति-विज्ञान से सम्बन्ध रखने वाला है।

किसी ने पूछा है—

Is there any moral shut  
Within the bosom of a bud ?

अर्थात्

कली के अन्तराल में सुप्त

नीति का है क्या कोई तत्त्व ?

बड्स्वर्थ का उत्तर होगा—नहीं, नहीं मुझे तो पत्थरों में परोपकार से प्रवचन और झरनों में वेद पड़े मिलते हैं (Sermons in stones and books in running brooks.)

दूसरे किसी टेनीसन जैसे का उत्तर होगा—यह जो सत्य, शिव, सुन्दर, तुम तीन अलग नामों से पुकारते हो, एक ही मूल्यवान् मणि के तीन पहलू (facets) है।

तात्पर्य यह है कि यद्यपि उपर्युक्त कवि का प्रश्न कि कली के भीतर कोई नीति-तत्त्व निहित नहीं है, ऊपर से दिखाई देने में बड़ा सरल है; असल में वह जटिल है। विशुद्ध सौन्दर्य जैसी कोई चीज सिवा हमारे भावलोक के कहीं बाह्य जगत् में नहीं बसती। हमारा भाव-जगत् भी अन्ततः सामाजिक परिपादर्व में बनता मिटता रहता है। जो एक हौंटेंटौंग के लिए सुन्दर और प्रेय होगा, शायद आपके लिए वह असुन्दर हो। और जो आज उपयोगी है, कल न रहे—चाहे वे मनु के नियम हों, चाहे मूसा के। आचार शब्द भी बड़ा सापेक्ष है। तिब्बत में वधू के सौन्दर्य की परीक्षा उसके ललाट और हथेली पर जमे मैल की अधिकाधिक पुटों से करते हैं। यही वहाँ का आचार है। एक युग में जो सती-प्रथा या अछूत-व्यवस्था सदाचार थी, आज दुराचार मानी जाती है। भो, जीवन के देखने की इन तीन दृष्टियों को यों काट-गोटकर अलग न कीजिये। जीवन पानी की सतह की भाँति है। जिस पर लाख तलवारों के प्रहार कीजिये, वह कटता ही नहीं।

आचार कर्म का प्रश्न है; सौन्दर्य भावना का और उपयोगिता सुविधा का। कर्म और भावना में वैसा मौलिक विरोध नहीं है जैसा कि आज के मानव में दिखाई देता है। अतः जो अनभिव्यक्त कर्म है वही भावना है; भावना की अभिव्यञ्जना कर्म है। सद्प्रवृत्ति या सौन्दर्य-प्रेम हमें सदाचार की ओर प्रवृत्त करता है। परन्तु आप पूछेंगे कि बहुत बार सौन्दर्य के प्रति आसक्ति क्या दुराचार के लिए प्रवृत्त नहीं करती? फूल का लालच उसे चुराने की ओर हमें प्रेरित कर सकता है; या जैसे अल्लाउद्दीन और पद्मिनी का प्रसंग अस्मिद्धि है; या आये दिन समाचार-पत्रों में पढ़ते हैं, वे बलात्कार की घटनाएँ उदाहरण हैं। यहाँ प्रकृति सुन्दर नहीं है, अतः कर्म भी दुराचारमय है। पुनः पुण्य और पाप के भी बाँट बदलते रहते हैं। 'त्यागपत्र'



की मूणाल का आचरण या शेखर का शशि से सम्बन्ध आज हम पुरानी तुला पर नहीं तोलते । Intention (हेतु) और Motive (उद्देश्य) को हम देखते हैं । अब दुनिया वाले वैसे नहीं रहे कि साकेतकार के शब्दों में सिर्फ—‘काम नहीं, परिणाम निरखते’ हों, उपयोगिता के भी मान बदलते हैं । कल तक शिवाजी-छत्रशाल की तलवार की प्रशंसा या वीरपूजा बड़ी चीज थी, उपयोगी भी उसे कुछ हद तक कह सकते थे, आज ‘परमाणु बम’ के युग में वह सब निरर्थक है, निरूपयोगी है ।

आशय, मेरे मत से सौन्दर्य में उपयोगिता या आचार को संबद्ध करने का प्रश्न ही नहीं बचता, चूँकि सौन्दर्य स्वयं एक अरूप, अमूर्त भावना है और वह हमारे आचार, उपयोगिता, विचार और सैकड़ों अन्य वस्तुओं से मिलकर बनती है । उन सब की चर्चा यहाँ अनावश्यक है ।

प्रश्न ४—प्रभाववादी आलोचकों का मूल आधार क्या है ?

मैं प्रश्न को समझा नहीं । प्रभाववादी से क्या तात्पर्य ? स्पिंगर्न का हवाला देकर पं० रामचन्द्र शुक्ल ने उसे ‘जनानी’ आलोचना कहा है । आलोचक के मन पर पड़ने वाला प्रभाव व्यक्त करने वाली, या पाठक के मानसिक प्रभावों की आलोचना करने वाली ? प्रभाववादी शब्द क्या Impressionist के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है ? यह शब्द प्रभाव, बिम्ब अथवा ‘इंप्रेशन’ स्वयं ऐसा निर्मूल और निराधार है कि उसका मूलधार-चक्र बेचारा क्या होगा ? हिन्दी में मेरे मत से पं० पद्मसिंह के बाद प्रकाशचन्द्र गुप्त वैसे प्रभाववादी आलोचक हैं ।

मैं जहाँ तक जान पाया हूँ यह शब्द मूलतः चित्रकला के एक सम्प्रदाय से लिया गया है । वहाँ से वह कविता में प्रयुक्त हुआ और वहाँ से वह आलोचना में आया है । इसका अर्थ यही है कि एक कलाकृति को देखकर, सुनकर, पढ़कर आलोचक के मन में जो विविध मानसिक आघात-प्रत्याघात हों उन्हें बिना किसी Sophistication या मँझले सेंसर के ज्यों-त्यों ईमानदारी से, आलोचक व्यक्त कर दे । यों बहुत से ‘प्रभाव’ एकत्र होकर, कुछ समय रूप-सा आलोच्य वस्तु का बन पायेगा अर्थात् आलोचक का यह दावा कि वह लेखक के अर्थ को पूरी तरह पा ही गया है, यहाँ फीका ठहरेगा । वर्जोनिया वूल्फ ने अपने ‘दी कामन रीडर’ में इसकी विवेचना की है । वह कहती है—‘जीवन कोई करीने से सजे-सजाये दीयों का नुमायश नहीं है, जो उन्हें गिन लिया और छुट्टी पाई । वह तो एक ऐसा आभावलय है जो आसानी से शब्दों में नहीं बाँधा जा सकता, उसमें मन की सभी क्रिया-प्रतिक्रियाओं का नित नया आन्दोलन प्रतिबिम्बित है...’

प्रभाववादी कविता के सम्बन्ध में जैसे नियम बनाना मुश्किल है, प्रभाववादी आलोचना की भी रूपरेखा अनिश्चित है ।

प्रश्न ५—आधुनिक समालोचना की मूल प्रवृत्तियाँ कौन-कौनसी हैं और हमारी

साहित्यिक प्रगति के लिए उनका क्या मूल्य है ?

प्रश्न को हिन्दी की ही सीमा में लें। हिन्दी की आधुनिक समालोचना के स्थूल रूप से कुछ ऐसे वर्ग हो सकते हैं—(१) पाण्डित्यपूर्ण, (२) छायावादी, (३) मार्क्सवादी और (४) मनोवैज्ञानिक।

पहले दो तो विद्यार्थियों के लिए बहुत उपयोगी कार्य कर रहे हैं। तीसरे सबसे अधिक प्रगतिशील है। यदि उनका कुछ कठमुल्लापन और 'थ्योरी' से अधिक चिपटने की प्रवृत्तिकम हो तो सबसे अधिक मूल्य इसी आलोचनाधारा का है। चौथी धारा एकाकी, त्रिशंकु, विजनवती आलोचना की है जो कि तीसरी के अनावश्यक आवेश को 'ब्रेक' का काम करती है। जो आलोचना-शैली आगे हिन्दी में स्थायी होगी वह इन चारों प्रकारों की एक सुन्दर नवीन अन्विति (Synthesis) होगी।

प्रश्न ६—क्या आप यह समझते हैं कि प्रगतिवादी के लिए प्राचीन साहित्य और रस-सिद्धान्त से पराङ्मुख होना आवश्यक है ?

हर एक प्रगतिवादी के लिए क्या आवश्यक है और क्या अनावश्यक है इसका निर्णय आप और हम करने वाले कौन होते हैं ? यह निर्णय तो प्रगतिवादी ही करेगा। जहाँ तक प्रगतिवाद को मैंने समझा है, ऐसी पराङ्मुखता आवश्यक नहीं। राहुल सांकृत्यायन ने 'हंस' में गत वर्ष प्रगतिवाद पर लेख लिखा था, उसमें स्पष्ट था कि वे प्राचीन सांस्कृतिक धरोहर और कलात्मक रूपों से किसी भी प्रकार अपने को विच्छिन्न नहीं मानते। केवल वे पुरानी बातों में नया आशय और नये प्राण फूँकना चाहते हैं। उदाहरणार्थ, जननाट्य-संघ की रामलीला। अतः प्राचीन साहित्य न पढ़ो ऐसा तो कोई भी प्रगतिवादी नहीं कहेगा। हाँ, पोंगापंथी मत बनो यह तो हर कोई सयाना आदमी कहेगा। प्राचीन साहित्य (तुलसी-रामायण और महाभारत) का अनुवाद एक अत्यन्त प्रगतिशील राष्ट्र सोवियत में हो रहा है जो इस बात का प्रमाण है कि प्रगति का और प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा का कोई तीन और छः का रिश्ता नहीं है।

चूँकि रस-सिद्धान्त कोई अटल वस्तु नहीं है, छंद, अलंकार-विधान, भाषा आदि बाह्यरूपों के समान, इनकी भी नये सिरे से पुनर्व्याख्या होना आवश्यक है। प्राचीन रस-सिद्धान्त रचनाकारों के समय संसार बहुत छोटा था, सरल था। आज समाज-जीवन के प्रश्न अधिक जटिल बन गये हैं और आज का कवि जहाँ आडम के शब्दों में स्वयं नये संसार और नये इतिहास-निर्माण की आत्मविश्वासपूर्ण 'हुँकार' कर रहा है, वहाँ बेचारे रस-सिद्धान्त तो कहाँ के कहाँ उलट-पुलट जायेंगे ही, फिर भी उन्हें बदलने के लिए भी; उनका अध्ययन तो आवश्यक है ही। पराङ्मुख तो प्रगतिवादी केवल प्रतिक्रिया और पलायन से होगा, अन्य किसी से नहीं।

## आलोचना रचनात्मक हो

शीर्षक में कुछ ऐसा भाव दीख पड़ता है कि मानों ऐसी भी आलोचना कुछ होता है जो नकारात्मक हो, या ध्वंसवादी हो। राजनैतिक पक्ष-परिचालित आलोचना जिसमें पक्ष-धरत्व (पार्टी-इज्म) प्रधान हो ऐसी ही संकीर्ण और नकारात्मक होती है। इसके उदाहरण हिन्दी में कभी नहीं देखे गये कि किसी लेखक को अपने पक्षवादी मतों के व्यस्त स्वार्थों के कारण रातों रात प्रगतिवादी घोषित कर दिया गया, और बाद में उसी के लेखन की ऐसी निन्दा शुरू की कि मानों उसके जान के गाहक हों। ऐसी बटमारी साहित्य के क्षेत्र में नहीं चला करती।

दूसरी बात यह है कि 'रचनात्मक' शब्द में कुछ जीवंतता, कुछ गति, कुछ विकास और कुछ और कुछ स्वयं-निर्मित, स्वयं-शासित पुरोहगमन, ऊर्ध्वचैतन्य भा सन्निहित है। वे विद्वान् जो मम्मट, रुद्रट, वामन, भामह, के 'धर्मकाण्डे' पर ही समूचा साहित्य (देशी-विदेशी और आधुनिक भी) तौलना चाहते हैं, वे बड़ी गलती करते हैं। साहित्यिक क्षेत्र में बटखरे और उधार नहीं लिये जाते यह सही है, पर अब हम नये युग, नये परिमाण और नये मापदण्डों के युग में जीते हैं यह नहीं भूलना चाहिये।

एक सभा में हिन्दी के एक स्वनामधन्य प्रगतिवादी आलोचक महोदय बोले—  
'मेरा काम आलोचना करना है। मेरा काम रचनात्मक साहित्य रचना तो नहीं है।'

यह वाक्य बहुत अर्थपूर्ण है। प्रश्न यह है कि यदि आलोचक का काम रचनात्मक साहित्य से अलग है तो वह क्या है? क्या वह निरी चीर-फाड़ है। ऐसे साहित्य-डाक्टरों की कमी नहीं है जो यह मानकर चलते हैं कि साहित्य और साहित्यिक इस समय किसी घोर गतिरोध, प्रतिक्रिया आदि-आदि नामों से विभूषित रोग से ग्रस्त है, और उन्हें डोज पर डोज दवा पिलाना उनका ही काम है। परन्तु यह स्वयं साहित्य-वैद्य या नीम-हकीम कभी अपने भी बारे में सोचते हैं क्या?

माना कि यह युग ह्यापोन्मुख (डिकेडेन्ट) है। और पूंजीवादी, विकृत, अश्लील आदि-आदि विशेषणों से विभूषित समाज-व्यवस्था है तो यह आलोचक महोदय जो अपने को सुप्रीम जज मानते हैं, क्या इन सब स्थिति-गतियों से परे किसी ऐसे लोक में बसते हैं जो इससे परे है? यदि ऐसी बात नहीं है तो आलोचक भी उन सभी मान्यताओं के उतने ही शिकार हैं जितने कि लेखक।

वस्तुतः साहित्य के क्षेत्र में रचनात्मक साहित्य और आलोचनात्मक साहित्य

में इस प्रकार द्वैत निर्माण करना या मानकर चलना खतरे से खाली नहीं है। नीचे में वर्तमान हिन्दी आलोचना-पद्धतियों के स्तरों की चर्चा करना चाहता हूँ। व्यक्तियों के उल्लेख में जान-बूझकर टाल रहा हूँ। समझदार पाठक उन्हें संकेत से समझ लेंगे।

१

आज हिन्दी में यह दशा है कि एक ओर तो नारा है कि हिन्दी राष्ट्रभाषा हो गई, अतः उसके अभावों की सर्वाङ्गीण पूर्ति हो। उसमें उत्तमोत्तम, उपयोगी और सुन्दर साहित्य सिरजा जाय। इस विषय में संस्थाएँ, शासन, साहित्यिक दलों की ओर से और व्यक्तिगत रूप से भी बहुत कुछ कार्य हो रहा है। वह अपने-अपने ढंग पर शुभ है। प्रकाशकों की शिकायत है कि उनकी किताबें कोर्स हुए बिना बिकती नहीं। दूसरी ओर साधारण पाठक की शिकायत यह है कि नयी हिन्दी कविता उसका समझ में नहीं आती। उसे कहीं पर स्टेज पर खेलना हो तो उसके लायक नाटक नहीं मिलते। लड़कियों-रिश्तियों को सिवा सस्ती-चवन्नी वाली 'सेक्सो' कहानियों की पत्रिकाओं के कोई बढ़िया उपन्यास-कथाएँ नहीं मिलतीं। वे अपनी तृषा शरत और प्रेमचन्द से ही पूरी कर लेती हैं। और आलोचना का तो पूछिये ही नहीं उसके स्तर ब्रँध गये हैं—

क. स्कूल कालेज की विद्यार्थियोपयोगी कुंजीवादी आलोचना। अमुक-अमुक लेखक : 'एक-अध्ययन' दो 'भीमांसा' या ऐसे ही नामों से कोई लेखक चंदबरदाई से प्रेमचन्द तक हिन्दी में नहीं बचा है। इस स्तर की आलोचना का यह लाभ है कि विद्यार्थी कठिन मूल न पढ़कर, सस्ती टीकाओं से परीक्षा पास कर लेता है, वहाँ एक बड़ी हानि यह है कि आलोचना के स्तर को इस प्रकार की सस्ती किताबों ने पनियल बना दिया। यानी विचार के स्तर से आलोचना निरे गद्य-अन्वय और भाष्य के स्तर पर उतर आई। विद्यार्थियों की स्वतन्त्र चिंतन-शक्ति को प्रोत्साहन देने के बदले, उसने उन्हें 'रेडीमेड' बैसाखियों का सहारा लेने की आदत डालकर, उनकी खोज और जिज्ञासा की वृत्ति को समाप्त कर दिया। यह आलोचना-पद्धति निरी पूरक है, रचनात्मक नहीं।

ख. दूसरी आलोचना-पद्धति है, विश्लेषणवादी ढङ्ग से दिमाग में पहले से कुछ चौखटे बनाकर, उन तहखानों में या दड़वों में लेखकों की कला को 'साट' कर देना। यह 'लेबलों' से चलने वाली आलोचना है। जैसे अमुक-अमुक लेखक रसवादी है, गान्धीवादी है, छायावादी हैं, रहस्यवादी हैं, प्रगतिवादी हैं, त्रास्कीवादी है, आदि-आदि ? इस आलोचना-पद्धति का गुण जहाँ यह है कि जिन दिमागों में तर्क-शक्ति नहीं होती, जो सूक्ष्म विश्लेषण नहीं कर सकते, उन्हें बड़ा सहारा मिल जाता है, और वे सहज ही उस कलाकृति की 'जाति' (स्पीशीज) को चीलने लगते हैं। परन्तु सबसे बड़ी कमी इस पद्धति में यह है कि जहाँ कोई नयी प्रतिभा, एक नया

साहित्यिक प्रयोग, एक नया विद्युत्प्राय विचारकण आया कि ये कटे-कटाये नाप वहाँ अधूरे पड़ जाते हैं। और ये आलोचक बौखलाकर या तो नया 'वाद' खोजने लगते हैं, या कहने लगते हैं, अमुक-अमुक लेखक अब तक छायावादी था, बाद में प्रगतिवादी बना, परन्तु क्या कहें अब वह अरविन्दवादी हो गया ? जैसे उसके इस प्रकार के रूप-परिवर्तन में कोई विकास-रेखा या अन्विति है ही नहीं ? यह सब 'वाद' क्या वह लेखक ऐसे बदलता जाता है, जैसे कोई अपना कपड़ा या कोट बदलता है ? और इस प्रकार की पूर्वाग्रह पूर्ण पूर्वग्रह दूषित आलोचना नवीन मौलिकता का मूल्याङ्कन करने में सर्वथा असमर्थ सिद्ध हुई है। वह बौखलाकर ध्वंसवाद की शरण लेती है।

ग. तीसरी आलोचना-पद्धति तटस्थ रस-ग्रहण के नाम पर गुण-दोष-विवेचन का निष्काम यत्न है। पहले तो इतनी तटस्थता जितनी आलोचक अपने तर्क मानकर चलता है, उसमें होती नहीं। दूसरे गुण और दोष के विवेचन का अर्थ है कि एक मूल्याङ्कन के पहले कुछ निदिष्ट मूल्य होने ही चाहिए। आज के युग में आकर साहित्य के क्षेत्र में साहित्य-शास्त्र के अपने मूल्य जैसे ना-काफी हो गये हैं। और इतिहास, दर्शन, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, प्राणीविज्ञान, मनोविज्ञान आदि-आदि बाह्य-मूल्य महत्वपूर्ण हो गये हैं। इस सम्बन्ध में, मुझे क्षमा किया जाय, यदि मैं कहूँ, हिन्दी आलोचकों का वैज्ञानिक अध्ययन और दृष्टिकोण अभी कुछ अपवाद छोड़कर परिपक्व नहीं है। फिर बौद्धिकता का, यह सरञ्जाम, उनमें व्याप्त रसग्राहकता के लिए पोषक सिद्ध होने की अपेक्षा दारक भी सिद्ध हो सकता है। परिणामतः एक उथली, गड्ढा-गड्ढा, थोड़े से आधुनिक वैज्ञानिक शब्द प्रयुक्त करने वाली दिशाहीन ही समीक्षा दिखाई देने लगती है। 'दृष्टिकोण' नाम से हिन्दी में तीन महानुभावों की पुस्तकें पढ़ जाने से यही मत-निश्चय होगा।

२

तो हिन्दी आलोचना का वर्तमान स्तर, मेरे मत में असंतोषप्रद है। परन्तु यह कहना तो काफी नहीं हुआ। यह पुनः एक अ-रचनात्मक दलील ही हुई। तो इस स्थिति के सुधार का क्या उपाय है ?

मेरे समझता हूँ सबसे पहला दायित्व हमारे साहित्य के शिक्षकों-अध्यापकों पर है। मैं यह आशा नहीं करता कि हर अध्यापक नवीन से नवीन दार्शनिक मनो-वैज्ञानिक-समाज शास्त्री सिद्धान्तों की जानकारी रख ही लेगा। परन्तु उच्च स्तर पर हिन्दी और अन्य भारतीय प्रान्तीय भाषाओं में जो एक अन्ध प्रान्ताभिमान या भाषा-भिमान से प्रेरित हो हम डाक्टरेट का डिग्रियाँ अन्धे की रेबड़ियों की तरह बाँटने लगे हैं, उन पर तो कोई नियन्त्रण (नैतिक नियन्त्रण) हो सक्ती है। कई पी-एच. डी. प्राप्तों के प्रकाशित-अप्रकाशित थसिस मेरे पढ़ने में आये हैं। और मेरा

प्रामाणिक मत है कि वे एम. ए. के निबन्ध के प्रश्नोत्तर के उत्तर, और कुछ फुट-नोटों द्वारा खासी मेहनत उनमें दरसाने का झूठा अभ्यास होता है। परन्तु जिसे ज्ञान के क्षेत्र में मौलिक चिंतन, अन्वेषण, दान कहते हैं उसका उनमें अभाव पाया जाता है। आखिर अपनी सर्वोच्च उपाधि को हम यदि इतना सस्ता बना देंगे तो स्वाभाविक है कि मिडिल, मेट्रिक, इण्टर की श्रेणी का क्या हथ्र होगा ? कई बी. ए. हिन्दी पास (सम्मेलन के विशारद, रत्न भी) शुद्ध हिन्दी लिखने से अनभिज्ञ मिले हैं। इसका क्या कारण है ? क्या हिन्दी के चोटी के, भाषा-शास्त्री और गण्यमान आचार्य मिलकर वर्तनी (हिज्जे), शुद्ध लेखन आदि के नियम निश्चित नहीं कर सकते ? महाराष्ट्र-साहित्य-परिषद् की शुद्ध लेखन-पद्धति प्रायः सभी मराठी पढ़ाये जाने वाले विश्वविद्यालयों में स्वीकृत है। जो उस पद्धति से नहीं लिखता उसे कम गुण (मार्क) मिलते हैं।

शुद्ध लेखन के बाद दूसरी चीज है हमारे प्राचीन ग्रन्थकारों के मूल शुद्ध पाठों के प्रति आदर। आप चार प्राप्ती की हिन्दी टेक्स्ट बुके उठा लीजिये। मीरा, कबीर, तुलसी, सूर के पदों के रूपों में आपको विभिन्नता जान पड़ेगी। संसार की किसी भी सुसंस्कृत भाषा में ऐसा नहीं होता। उस पर विचार होता है। पाठ निश्चित किये जाते हैं। उनमें प्रामाणिक पाठों को ही माना जाता है। विद्यार्थी गलत पाठ याद कर लेते हैं।

फिर यह है कि आधुनिक साहित्य का जहाँ तक प्रश्न है गलत मूल्यांकन इस हद तक है कि जो सस्ता, बिना मूल्य लेख सहज प्राप्त हो जाय वह कोर्स-बुकों वाले संग्रहों (क्या पद्य और क्या गद्य) में डाल दिया जाता है। साहित्यिक गुणों पर यह कसौटी नहीं होती कि अमुक कहानी या पद्य लिया जाय या नहीं; कुछ तो नाम का आतंक यहाँ काम करता है, कुछ प्रान्तीयता और कई बार ऐसे बाह्य विचार भी कि अमुक की रचना ले लेने से यह पुस्तक जल्दी कोर्स-बुक हो जायगी। एक नाटक-संग्रह में एक व्यक्ति ने आजीवन एक नाटक लिखा है तो वह भी शामिल है, और कहीं-कहीं तो मार-पीटकर किसी को नाटककार बना दिया गया है।

इस सारी धाँधली का कहीं कोई निष्पक्ष नियन्त्रण, इस पर कोई रोकथाम, बुजुर्ग साहित्यिकों से कोई नैतिक डाँट-डपट साहित्य में क्या कहीं नहीं रह गई है ? महावीरप्रसाद द्विवेदी जी भाषा के सम्बन्ध में जो सावधानी अपने सम्पादन में बरतते थे, या प्रेमचन्द ने जितना प्रोत्साहन (मुझ जैसे) नये लेखकों को दिया या बनारसीदास जी ने जिस तरह कुछ विवाद उठाकर उन पर मुक्त चर्चाएँ कराईं (यथा 'साहित्य और राजनीति' पर), वह सब सम्पादकीय आदर्श आजकल हिन्दी में क्या लुप्त हो गये।

मैं आये दिन हिन्दी के तरुण नये लेखकों, युवकों, विद्यार्थियों, जाने-अनजाने आलोचकों, अध्यापकों से मिलता हूँ और मुझे स्थिति बहुत भयावह जान पड़ता है। क्योंकि अध्ययन, साधना, परिश्रम और उदार दृष्टि का मुझे बहुत अभाव चारों ओर जान पड़ता है। संकीर्णता बढ़ती जा रही है, यहाँ तक कि 'प्रगति' के पोषकों में भी 'अ-प्रगति' उत्पन्न हो गई है। रचना क्षीण होती जा रही है, गुण-दोष-विवेचन 'दोषैक दृष्टि' का प्राधान्य है। और यों हिन्दी समीक्षा-क्षेत्र काफी हलके-उथले सतह के विवादों में पड़ गया है। मूल वस्तु है साहित्य की सरिता का प्रवाह, वह जैसे शुष्क शब्द-जञ्जाल की सिकता में सूख रहा है। मैं साहित्य का एक अदना प्रेमी हूँ, पन्द्रह-बीस साल से कुछ कागज रंग रहा हूँ। परन्तु मेरा मन इस समय हिन्दी-आलोचना की स्थिति पर जितना खिन्न है, उतना पहले कभी नहीं था—क्योंकि मार्ग कहीं दिखाई नहीं देता। सही, स्वस्थ मूल्यांकन का अभाव है। साहित्यिकों के जैसे मठ बन गये हैं; अपनी-अपनी महंती पुजवाने में रूथी-महारथी व्यस्त है। कुछ उन्हें मारने-काटने-गिराने में शक्ति का अपव्यय कर रहे हैं। और तरुण साहित्य-सेवी के हृदय पर कोई अच्छी तस्वीर नहीं खिंच पाती।

कोई यह कहेगा कि यह तो घोर सांस्कृतिक सङ्कट (क्राइसिस) का काल है। और जो जीवन की अन्य दिशाओं में प्रतिफलित हो रहा है, साहित्य उससे अछूता नहीं है। परन्तु आपको याद होगा, ग्यारह वर्ष पूर्व जब आगरे से आप 'साधना' मासिक निकालते थे, तब मैंने 'साहित्य-प्रवाह' नाम से एक नियमित स्तम्भ 'विद्यार्थी' उपनाम से लिखा था, तब मेरे मन में इतनी खिन्नता और निराशा नहीं थी। 'लिखूँ तो किसलिए ?' लेख में मैंने बहुत सी सख्त-सुत बातें उस वक्त जोश में कही थीं—पर फिर भी जैसे साधना पर विश्वास अटूट था, कोई आशा थी। अब कुछ 'संशयात्मा'—सी स्थिति में पड़ा हूँ। और गत दो-ढाई वर्षों में अपने मानसिक स्वास्थ्य को सन्तुलित रखने में अपने आपको असमर्थ पा रहा हूँ; सृजन के क्षण जैसे किसी उत्तप्त लू में झुलस गये हैं। मतवादों के घूर्णायित वात्स्यायन चारों ओर हैं; परन्तु प्रतिभा के अंकुर का सौहार्दपूर्ण सिंचन जैसे शेष हो गया है। हल्ला-गुल्ला साहित्य-क्षेत्र में बहुत है; भीड़-भड़का भी है; पर सब मिलाकर परिणाम बहुत थोड़ा निकल पा रहा है। 'मच क्राइ, लिटिल बूल !'

ऐसा क्यों है, इस पर और भी आलोचक विचार करें तो अच्छा हो। मेरे मत से आलोचक अपने कर्तव्य से चूक गये हैं। और आलोचना अधिक विधायक और रचनात्मक हो तभी कुछ आशा।

द्वितीय भाग

आधुनिक कविता



## सर्मी कवियों की विरह-व्यंजना

प्रस्तुत लख में मैं अंग्रेजी, मराठी तथा हिन्दी के कुछ सर्मी अथवा रहस्यवादी (मिस्टिक) कवियों की आर्त्त विरह-वर्णन के नमूने प्रस्तुत करना चाहता हूँ। अन्त में फ्रायड की वह मान्यता कि प्रत्येक व्यक्ति में एक प्रकार की 'अपूर्ति अथवा अतृप्ति' उपस्थित रहती है, जिसे वह कल्पना या स्वप्न द्वारा पूर लेता है; उसी के विराट् रूप में ये सब सर्मियों की उक्तियाँ हैं—यह सिद्ध करने का मैं प्रयत्न करूँगा। बृहदारण्यक १।४।१-३ का आधार फ्रायड ने अपनी पुस्तक 'सदसद से परे' के आरम्भ में दिया है। वह अंश है—

आत्मै वेदमग्र आसीत् पुरुष विधः...

स वै नैवरेमे तस्मादेकाकी न रमते ।

स द्वितीयामैच्छत् ।

स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ संपरिष्वक्तौ ।

स इममे वात्मानं द्वेधा पातयत्ततः पतिश्च पत्नीचा भवता तस्मादिदमर्ध्वबृगलमिव स्व हति ।

सूफी जामी की उक्ति भी बड़ी मार्मिक है—“जो एक नहीं हुआ है, वही दुई के कारण से दुःख पा रहा है।” एक से दो बनना दुःख का कारण है। विरह भी इकाई में सम्भव नहीं। दार्शनिक जिसे द्वैतवाद की समस्या मानते हैं, उसी पर काव्यात्मक दृष्टि से प्रस्तुत निबन्ध में विचार हैं।

मैं अंग्रेजी कविता से शुरू करता हूँ।

अंग्रेजी में सत्रहवीं सदी में कई अध्यात्मप्रधान कवि हुए हैं, जिनमें जॉन डॉन, कैरिड, एक्लिंग, क्रैशॉ, लवलेस, वांथॉन, एंड्रयू मार्वेल आदि प्रधान हैं। इन अध्यात्मिक कवियों के सम्बन्ध में ग्रीयर्सन अपनी विद्वत्तापूर्ण भूमिका में कहते हैं—“सत्रहवीं सदी के इन सर्मियों ने दो चीजों को मिला दिया—जो दोनों चीजें जल्दी ही नष्ट हो गई—मध्ययुगीन प्रेम-कविता की कल्पना-प्रधान दृष्टात्मकता और पौराणिक कथाओं का सरल, ऐंद्रियिक स्वर। इस प्रकार आत्मा और शरीर को कविता देवी के रथ से जोड़ दिया गया, जो खुशी-खुशी दौड़े और उड़े भी। (यूनानियों में विश्वास है कि

पैगेंस नामक सर्पख अश्व पर काव्य-प्रतिभा चलती-है ।) आधुनिक प्रेम-कविता ने वे दोनों गुण छोड़कर हलकी भावुकता में अपने आपको खो दिया है ।” (‘मेटाफिजिकल लिटिक्स एंड पोएम्स’—आक्सफोर्ड प्रकाशन)

एंड्रयू सार्बेल की यह उक्ति देखिये—‘जैसे तिरछी रेखाएँ हैं, वे प्रत्येक कोण में एक दूसरे से मिलती हैं; टेढ़े प्रेम की भी वही स्थिति है ।

“किन्तु हमारा प्रेम इतना समानान्तर है कि वह असीम होकर भी कभी नहीं मिल सकता ।”

अथवा एक अन्य कविता में—“कब बहुत बढ़िया और एकान्त स्थान है ; परन्तु वहाँ में समझता हूँ, कोई भी आलिंगन नहीं करता ।”

सार्बेल ने आत्मा और शरीर के बीच में एक संवाद लिखा है जिसमें आत्मा कहती है—

“किस जादू ने मुझे बाँध रखा है कि मैं दूसरे के दुःख से दुखी होऊँ !

“जब कोई भी हिकयत वह करता है तो मैं ऐसा अनुभव करती हूँ कि मानो मैं अनुभव ही नहीं करती दुःख का ।”

अप्रेक्षी की इस आध्यात्मिक विशेषणयुक्त कवि-परम्परा में जौन-डौन अपना विशेष स्थान रखते हैं । वह अनेक विरोधाभासों से युक्त एक विचित्र व्यक्ति थे । उनकी विरह के सम्बन्ध में उक्तियाँ बहुत प्रख्यात हैं । उदाहरणार्थ, कुछ उपमाएँ देखिये—

हमारी दो आत्माएँ जो असल में एक ही हैं,

भिरह सह नहीं सकती, किन्तु चूँकि मुझे जाना ही है,

वे आत्माएँ फैलती चली जायँगी

जैसे सोना कुट-कुटकर कण-कण बनकर हवा में उड़ जाता है ।

अगर वे दो भी हो जायँ तो वे ऐसी दो होंगी,

जैसे कम्पास के दोनों पैर अपनी-अपनी जगह तने हुए दिखाई देते हैं;

तुम्हारी आत्मा, उस केन्द्र में जमे हुए पैर की भाँति है, जो हिलता नहीं,

परन्तु अगर दूसरा पैर हिले-धूमे तो वह भी घूमता है ।

इस प्रकार की रचना बहुत स्थूल और वास्तव उपमाएँ लेकर चलती जान पड़ती है । परन्तु ‘जैसे उड़ि जहाज का पंखी, पुनि जहाज पे आवे’ में भी क्या स्थूलता नहीं है ?

जौन डौन ने श्राँस की गोल बूंदों को लक्षित कर अन्यत्र कहा है—जैसे किसी गोले पर कुशल कारीगर दुनिया के भू-खंडों के मानचित्र बनाकर ‘नहीं’ में से ‘है’-जैसी सृष्टि पैदा कर सकता है, उसी प्रकार तुम्हारे अश्रु-बिन्दु एक-एक जगत् हैं, जो मेरे श्राँसुओं में मिलकर एक प्रकार का प्रलय निमित्त करते हैं । इस बाढ़ में यह दुनिया,

यह आकाश और, स्वर्ग सब बह जाते हैं। उर्दू कवि ने भी यही बात मार्मिकता से कही थी—‘चश्मों से अब मैं अपने बैठे हैं हाथ धोकर ?’

डौन अपने प्रेम के जन्म की बात कहता है कि मेरे प्रेम का जन्म असाधारण, विलक्षण और बहुत ऊँचा है। असम्भवता की चोटी पर निराशा की कुक्षि में मेरा प्रेम जन्मा। मृत्यु की याद तो डौन पग-पग पर करता है। वह कहता है—इस प्रकार वियोग में ‘जाओ’ कहकर और मृत्यु को और समीप बुलाकर तुमने मुझे दुबारा मार डाला।

जौन हॉकिन्स, उसी परम्परा के एक दूसरे कवि ने विरह का एक फ़ायदा बतलाया है—“मैं एकांत में सस्तिष्क के ऐसे निभूत कोने में उस प्रिया को पकड़ सकता हूँ, आश्लेषण और चुम्बन दे सकता हूँ और इस प्रकार मैं उससे आनन्द प्राप्त कर सकता हूँ और घोर दुःख भी, एक साथ।”

टौमस कैरिड अपने प्रेम की ‘शाश्वती भस्मा’-स्थिति-वर्णन करते हुए कहता है—“उस व्यक्ति को भला क्या प्रेमी कहा जाय जो विरह या प्रताड़ना के पश्चात् अपनी प्रेम की ज्वाला को जलाये न रख सके या जो आग लगे कागज का भभक उठे और बुझ जाय। सच्चे प्रेम की दिव्य ज्योति, जैसी मेरे हृदय में है, इस आत्मा के उड़ जाने के बाद—शरीर के अवसान पर भी बराबर जलती रहेगी—कभी नहीं कुम्हलायेगी। मेरे अस्थिपात्र की विभूति तक सदा के लिये जलती रहेगी।”

गहरी निराशा से स्टैनली अपनी ‘तलाक’ कविता में कहते हैं—“प्रेम उस चीज की क्यों आशा करे जिसे नियति ने मना कर दिया ? अब आसक्ति ने जिन दोनों को जोड़ा था, उन्हें नियति जब दो कर ही रही है, तब इतनी क्रूरता दिखा जितनी तू दिखा सके। मुझे मौत में ही सुख मिलेगा।” स्वर्गीय चित्तरंजन दास ने भी तो अपनी प्रेयसी के लिए कहा था—

तोमार ओ प्रेम सखि शानित कृपाण ।

तोमार ओ प्रेम सखि मरण-समान ॥

रवीन्द्रनाथ को ‘भानुदास’-रूप में ‘मरण, तुहूँ मम श्याम समान’ दिखाई दिया। इसी से स्टैनली ने और एक कविता के अंत में कहा—“मेरी (कब्र की) मिट्टी पर आँसू बहाना और कहना कि यहाँ प्रेम और भाग्य दोनों का शहीद सो रहा है !”

विरही का समय भारी होता है। क्षण कल्प के समान बीतते हैं—यह न मेघदूत के यक्ष का ही अकेले का अनुभव है और न ‘नवीन’ के गीत ‘कूया मर गये आज घड़ियाल बजानेवाले’ के नायक का; हेनरी किंग भी यही कहता है—

“शोकाकुल के लिए समय भी कैसे अलस भाव से रेंगता है। मेरा काम अब

इतना ही रह गया है कि आहों में घुली आँसू की झड़ी में मैं थकान भरे घंटे गिना करूँ।”

वैसे तो अंग्रेजी कविता का क्षेत्र विशाल है और बाइबिल के ‘साम्स’ से लगाकर आधुनिकतम कवियों तक विरहोद्गारों के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं; परन्तु उन सबका विवेचन करने के लिए यहाँ स्थान नहीं।

संक्षेप में, अंग्रेजी और यूरोपीय धार्मिक कवियों का विरह-वर्णन काफ़ी स्थूल और ऐद्रेयिक भासनोद्दामता के संकेत लिये हुए और मृत्यु के प्रति प्रेम दरसाते हुए हैं।

३

हमारे यहाँ के संतों की साधना इससे भिन्न है। मराठी के संत-कवियों—ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम और उनके शिष्य निलोब्दा—के ही उदाहरण यहाँ देता हूँ। संत ज्ञानेश्वर लिखित ‘ओलीचे अभंग’ ‘विरहिण्या’ प्रकरण का कुछ चुनी हुई उक्तियों का भावार्थ यों हैं—

मिलने गयी तो मैं उसी की होकर रही। ऐसी ठगी गयी कि मुझे कुछ पता हा न चला।

लौटते वक्त जब आँखें पीछे मुड़कर देखने लगीं, तो न काली और न साँवली—कोई मूर्ति ही नहीं दिखाई दी।

...अन्दर-बाहर कैसा एक ही रंग भरा है कि जहाँ मैं उसे गले भरकर मिलने गयी तो एकाकार हो गयी।

अब तो सँभाले नहीं सँभल पाती हूँ। माँ, तुझ से क्या कहूँ; पूरा जीवन ही मने न्यौछावर कर दिया।

आशा का लालच गया तो उलटी भागती ही रही; निराशा को समय न लगते वह वांछित वस्तु मिल गयी।

...उस रूप ने मुझे खींच लिया। क्या कहूँ माँ, बुलाने जाती हूँ तो वह सब निर्गुण ही हो जाता है।

मेरा अपनत्व नहीं बच रहा। प्रपंच (संसार) की कहानी ब्रह्ममय हो गयी।

...दूर देश में पड़ी हूँ। मन में सुधियाँ आती हैं। यह वियोग असह्य है, इससे जीव कष्ट में है।

ज्ञानेश्वर की विरहिणी-सम्बन्धी एक और भी काव्यमय उक्ति ही देखिये—  
आँगन में कमलिनी है; जलधर ऊपर झुक आया है। क्यारी सींचने पर सूख-सूख जाती है।

मोती-जैसा पानी नीले पात्र में बह रहा है। सगुण की पीर जो वह जगा गया है।

इतने में, आस की मंजरी तो नहीं है—ऐक्य बनकर चौकी। वह तो उसकी ही अपनी उंगली थी। रक्तोत्पलों से वह डर गयी; अरे, वह तो उसके ही कर-कमल जो थे।

अपने ही नाद से शंकित हुई, यह समझकर कि कहीं कोयल तो नहीं कूक रही है; फिर अपनी ही उसासों पर वितर्क करने लगी कि यह मलयानिल तो नहीं आ गया!

सुन्दरी ने जो 'सेला' पहना था, वह विरहाग्नि से ऊपर ही ऊपर जल गया; तपे हुए तेल पर पत्ता फट जाता है।

नामदेव (१३२७ ई० से १४०७ विक्रम-संवत्) ने विरहिणियों के वर्णन नहीं किये हैं; परन्तु मर्मियों की-सी आत्मलांछना का भान उन्हें बहुत है। एक तो वे अपनी ओछी समझी जाने वाली जाति दर्जीगिरी का उल्लेख करते हैं और फिर कौटुम्बिक दुःख तथा उपेक्षा का भी वर्णन करते हैं—

[भावार्थ—लोहे का चाकू पारस से छू गया। अब उसे पुरानी कीमत पर नहीं माँगना चाहिये।]

देश्या थी। वह पतिव्रता बन गयी। अब उससे पुरानी बात नहीं करनी चाहिये।

दासीपुत्र को राजपद मिल गया। अब पहले की उपमा नहीं देनी चाहिये।

विष्णुदास नामदेव 'विट्ठल' (विष्णु) में मिल गया। अब उसे दर्जी-दर्जी कहकर पुकारना नहीं चाहिये।

पुत्र-कलत्र-बन्धु आदि वज्रपाश में बँध गया। दुःख के पर्वत मुझ पर गिरे हैं। हे श्रीहरी, पांडुरंग (विट्ठल का एक नाम) 'घाय बचावौ'!

ये सब कुटुम्बी-मित्रादि मुझ से सुख की बातें नहीं करते। हे चक्रपाणि ! मे परदेशी हो गया।

सबका दास्य किया। बड़ी आस और भरोसा था कि वे अपने होंगे। मगर वे सब अपने ही हित (स्वार्थ) का सेवन कर रहे हैं—न मेरी चिन्ता करते हैं, न परलोक की।

...अब तो सुख-दुःख दोनों हमें एक-से हो गये हैं। मन को यही प्रतीति मिली है। अंतर्बाह्य एक ही ब्रह्म व्याप्त है। द्वैत भावना सब निबट गयी।

नामदेव की इस प्रकार की आर्त आत्मस्वीकृति के पीछे उसके जीवन की जलती हुई उपरति की, पश्चात्ताप की कहानी है। नामदेव की शादी राजाई से हुई थी। शादी के बाद नामदेव बुरी संगत में फँसकर डाकू बन गया और राहगीरों को लूटता था। कई गरीब यात्रियों को मारा, भोले पंथियों को लूटा। यह जब बहुत दिनों तक चला तब इन लोगों का बड़ा 'हल्ला' मचा और उन्हें पकड़ने के लिये वहाँ के अधिकारियों ने अपने 'राउत' (आजकल के पुलिस जंसे) भेजे। 'राउत' और नामदेव के गिरोह में लड़ाई हुई। कई 'राउत' मारे गये। परन्तु नामदेव का नियम था कि वह लूट-पाट करता तो जरूर था, मगर अपने बड़े घोड़े पर चढ़कर अवंदा गाँव के नागनाथ के

दर्शन को अवश्य जाता। नित्य की भाँति इस 'राउत'-संग्राम के पश्चात् नामदेव नागु-नाथ के देवालय में पहुँचा। ब्राह्मण आरती कर रहे थे। नैवेद्य की थाली सज्जी थी। उस समय एक गरीब शूद्र स्त्री वहाँ देवता के दर्शनों के लिए आई। नैवेद्य की थाली का अन्न देखकर उस स्त्री की गोद में जो बच्चा था, उसने 'मम्मे वह अन्न दे' ऐसा हठ किया। बच्चे का यह व्यर्थ का हठ देखकर माँ ने उसे डाँट दिया, परन्तु वह नहीं माना। तब माँ ने उसे पीटना शुरू किया। बच्चा अन्न माँग रहा है और माँ उसे पीट रही है, यह देखकर नामदेव का हृदय उमड़ आया और उसने पूछा—“माँ, तू अपने बच्चे को क्यों मार रही है?” उस गरीबिनी ने नामदेव को न पहचानते हुए हिचकियाँ भरते हुए उत्तर दिया—“न माँ तो क्या कहूँ? मैं इसके लिये ऐसा अन्न कहाँ से लाऊँ? मेरा धनी 'राउत' था; उसे नामा डाकू ने मार डाला। हाय भगवान्, अब मैं अपने बच्चे की जिद कहाँ से पूरी कहूँ? इसे यदि मैं अपनी हड्डियाँ पकाकर दे सकती तो अच्छा होता।” नामदेव यह सुनकर पछतावे से भर आया। वहीं उसके पास जो कुछ था, वह सब बाँट दिया। अपनी बड़ी घोड़ी भी दे डाली और हाथ में एक छुरा लेकर वह देवता के बिलकुल पास पहुँच गया। शिर्वाँलुंग से बोला—अब मैं यह आघात सहन कर अपने आपको दंडित कर लूँगा। और छुरा अपने सिर में मार लिया। खून का फव्वारा छूटा। उसकी धारा शिर्वाँलुंग का अभिषेक करने लगी। पुजारी दौड़े आये। नामदेव के हाथों से शस्त्र छीन लिया। देवता ने उसे पंढरपुर (महाराष्ट्र के वैष्णवों का प्रसिद्ध तीर्थ-स्थान) जाने के लिए कहा। जहम पट्टी से बाँधकर वह पंढरी के बिट्ठल के दर्शनार्थ चला। राह में भीमा नदी पूर पर थी। वहीं वह भजन करता हुआ सत्याग्रह करता बैठ गया। लोग जमा हो गये—सब उसे डाकू नामा, दर्जी नामा कहकर चिढ़ाते। परन्तु वह भजन गाता ही रहा। भीड़ खतम हो गयी। उस समय के वे पद हैं, जो ऊपर दिये हैं।

‘महाराष्ट्र-सारस्वत’-कार वि० ला० भावे ने नामदेव-चरित्र में नामदेव का एक भक्त और भगवान् की एकरूपतावाला ‘अभंग’ (छंदविशेष) दिया है और उसी के नीचे पाद-टिप्पणी (फुटनोट) में ‘मीरा की ब्रजभाषा का मीठा पद’ भी दिया है। मैं दोनों नीचे दे रहा हूँ; क्योंकि ‘तुम और मैं’ यह मर्मियों का प्रिय विषय है।

नामदेव—

तूँ आकाश मी भूमिका । तूँ लिंग मी शाकुंका ।  
तूँ समुद्र मी चंद्रिका । स्वयें दोन्हीं ॥  
तूँ वृंदावन मी चिरी । तूँ तुलसी मी मंजरी ।  
तूँ पावा मी मोहरी ॥

तू चांद मी चांदणी । तू नाग मी पक्षिणी ।  
 तू कृष्ण मी रुक्मिणी ॥  
 तू नदी मी झड़ी । तू तारू मी सांगड़ी ।  
 तू धनुष्य मी भातड़ी ॥  
 नामा म्हणो पुरुषोत्तमा । स्वये जडलो तुझिया प्रेमा ।  
 मी कुडी तू आत्मा । स्वये दोन्हीं ॥

मीरा—

जो तुम तोड़ो पिया । मैं नहि तोड़ूँ ।  
 तोड़ूँ तोरा संग कृष्ण कौन दुजा जोड़ूँ ? ॥  
 तुम भये तरुवर, मैं भयी पंखिया ।  
 तुम भये सरोवर, मैं भयी मछिया ॥  
 तुम भये गिरिवर, मैं भई चारा ।  
 तुम भये चंदा, हम भये चकोरा ॥  
 तुम भये मोती, हम भये धागा ।  
 तुम भये सोना, हम भये सोहागा ॥  
 बाई मीरा कहे प्रभु ब्रज के बासी ।  
 तुम मेरे ठाकुर, मैं तेरी दासी ॥

और रैदास का—

प्रभुजी तुम चंदन हम पानी ।  
 जाकी अँग-अँग बास समानी ॥  
 प्रभुजी तुम दीपक हम बाती ।  
 जाकी जोति जरै दिन राती ॥

इत्यादि पद तो बहुत प्रसिद्ध ही हैं ।

नामदेव के पश्चात् एकनाथ (१६०५ वि०-१६६६ वि०) आते हैं, जिनके 'अभंगों' में भी विरहिणी का रूप काफ़ी स्पष्ट है । वे कहते हैं—

युग-युग की पीड़ित यह विरहिणी है । यह ध्यानपूर्वक मन में चक्रपाणि का स्मरण नहीं करती, इसी से वियोग की यातना है । इतने में संत-संगति मिली । विरह गया, अपार सुख हुआ । जन्म-जन्म के आवागमन की डोर टूट गयी ।

और एक स्थल पर कहते हैं—

चातक की प्यास ही कितनी है ? लेकिन उसे तृप्त करने में पूरी क्षिति भी शांत हो जाती है ।

गाय वत्स के लिए दूध देती है । मगर उसी में से घर-घर में दूध-बहा-मक्खन

भी पहुँच जाता है ।

मिठाई खाना बालक नहीं जानता । माता जबर्दस्ती मुँह में उसे ठूसती है ।

एक जनार्दन कहते हैं । मेरा एक-पन कहीं कोई ले गया ।

जामी (सूफी फारसी कवि) के इसी एके और दुई के भाव को लेकर फारसी साहित्य के इतिहासकार ब्राउन ने वे दो पंक्तियाँ अनुवाद के रूप में दी हैं—Whosoever has not become ONE, always suffers with the pangs of separation.

मराठी संतमालिका में, ममी कवियों में अंतिम और महत्त्वपूर्ण कवि तुकाराम के कुछ छंद देकर यह परिच्छेद समाप्त करता हूँ । तुकाराम की गाथा में गौलणी (ग्वालियँ, गोपियाँ) और 'विराण्या' (विरहिनियाँ) दो अलग अध्याय हैं । गौलणी में दो हिन्दी के छंद भी हैं, जो इस प्रकार दिये हैं—

मै भुली घरजानी बाट । गोरस बेचन आयें हाट ॥१॥

कान्हा रे मनमोहन लाल । सब ही बिसरूँ देखें गोपाल ॥२॥

काहाँ पग डारूँ देख आनेरा । देखें तो सब वोहिन बेरा ॥३॥

हूँ तों थकित भैर तुका । भागा रे सब मनका धोका ॥४॥

हरि बिन रहियाँ न जाये जिहिरा ।

कबकी थाड़ी देखें राहा ॥१॥

क्या मेरे लाल कवन चुकी भई ।

क्या मोहिपासिती बेर लगाई ॥२॥

कोई सन्वी हरि जावे बुलावन ।

बार हि डारूँ उस पर तान ॥३॥

तुका प्रभु कब देखें पाऊँ ।

पासीं आऊँ फेर न जाऊँ ॥४॥

ये विरहिनियाँ पर-पुरुष से रत होने के लिए बहुत व्याकुल होती रहती हैं । कहती हैं—“पर-पुरुष का सुख भोगना हो तो सिर काटकर हथेली पर रख लो । अपने ही हाथों से संसार (दाम्पत्य-जीवन) को आग लगा दो और पीछे मुड़कर न देखो । जिस प्रकार दीपक पर पतंग होता है, वैसे ढीठ बनो ।” (तु० की गाथा अंश १६७)

‘विराण्या’ अंश में तो काम और उसकी अतृप्ति के स्पष्ट उल्लेख हैं, राधा-कृष्ण सगुण-रूप हैं, तीन-तीन पंक्ति की तुकाराम की वे कविताएँ अत्यन्त ही तेजोमय हैं—

पहले पति से काम पूर्ण नहीं होता था, इसलिए मुझे मजबूरन व्यभिचार का सहारा लेना पड़ा । मुझे वह रात-दिन पास चाहिए । एक क्षण न एक घड़ी उससे



अलग नहीं रह सकती। मेरी सुविधा पूर्ण करो। मैं तो अनंत से रत हो गयी—तुका कहता है।

बात यह है कि यही मूल पद तुकाराम ने लिखा है; इसलिए श्रेष्ठ भक्ति साहित्य में आ जाता है। टीकाकार उसके सैकड़ों आध्यात्मिक अर्थ भी निकाल लेंगे; मगर वही भाव यदि कोई आधुनिक कवि लिखेगा तो उसे 'अश्लीलता' और 'समाजद्रोह' और न जाने क्या-क्या लांछनों से भूषित होना पड़ेगा। यहाँ तुकाराम या अन्य किसी संत की महत्ता कम करना मेरा उद्देश्य नहीं; केवल वस्तु-स्थिति का वर्णन कर देना चाहता हूँ। मेरा आशय इतना ही है कि भक्ति आदि जितनी वायवी मानी जाती थी, वैसी निरींद्रिय न होकर, काफ़ी मांसल थी; कम-से-कम वैसे रूपक प्रतीक-संकेत बरतने में वह संकोच नहीं करती थी। वैरागी कवियों का यह हाल है, तो सगुण भक्ति-शाखा के श्रृंगारी कवियों का तो कहना ही क्या !

४

हिन्दी सन्त कविता से विरह-वर्णन के अनन्त उदाहरण दिये जा सकते हैं, परन्तु चूँकि मेरा विषय-क्षेत्र मर्मियों तक सीमित है, यानी निर्गुणिए सन्तों की बात में अधिक करना चाहता हूँ—मैं यहाँ विद्यापति या मीरा या सूर और अन्य अष्टछाप के कवियों की बात जान-बूझकर छोड़ देना चाहता हूँ। निर्गुणियों में भी मैं दादू और कबीर को ही खास तौर पर लेना चाहता हूँ। दादू की विरहिणी आत्मा के उद्गार देखिये—

१

दे दरसन देखन तेरा, तौ जिय जक पावै मेरा ॥  
 पिय तूँ मेरी बेदन जानै, हौं कहा दुराई छानै ।  
 मेरा तुम देखे मन मानै ॥ १ ॥  
 पिय करक कलजे माहीं, सो क्यों हीं निकसै नाहीं ।  
 पिय पकरि हमारी बाँही ॥ २ ॥  
 पिय रोम-रोम दुख सालै, इन पीरुं पिजर जालै ।  
 जिय जाता क्यूँही बालै ॥ ३ ॥  
 पिय सेज अकेली मेरी, मुझ आरति मिलौ तेरी ।  
 धन दादू बारी फेरी ॥ ४ ॥

२

आव सलौने देखन दे रे ।  
 बलि-बलि जाऊँ बलिहारी तेरे ॥  
 आव पिया तूँ सेज हमारी ।  
 निसदिन देखो बाट तुम्हारी ॥

३

आव पियारे पीत हमारे ।

निसि दिन देखौ पाँव तिहारे ॥ टेक ॥

सेज हमारी पीव सँवारी । दासि तुम्हारी सो धरेण वारी ॥

जे तुभ पाऊँ अंगि लगाऊँ । क्यूँ समझाऊँ वारण जाऊँ ॥

पंथ निहाळूँ, बाट सँवाळूँ । दादू ताळूँ तनमन वाळूँ ॥

ऐसे और भी अनेकों उदाहरण दिये जा सकते हैं । मेरा निवेदन केवल इतना ही है कि ये सब संत या मर्मी या पहुँचे हुए ब्रह्मज्ञानी एक-से शृंगार-गर्भित रूपक या प्रतीक ही क्यों उपयोजित करते हैं ? वही सेज, वही अंग-मिलन, वही प्रेम-प्यासे, वही तृषा मिटना, वही विरह-ज्वाला, वही प्रिय के 'सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य' की कामना, वही छटपटाहट, वही प्रतीक्षा, वही अकेला-अकेलापन—सभी संतों की बानी में यह एक-से वर्णन क्यों ? भाषा, प्रान्त, देश, काल-भेद से अपर यह प्रतीकों की समानता क्या मेरी बात सिद्ध नहीं करती कि यह जो कुछ 'रहस्य'-वाद जंसा माना जाता है, वह वस्तुतः भौतिकवाद का ही उत्था रूप है; उससे छुटकारा पाने का प्रयत्न मात्र है । और कवि भी चूँकि अपनी भौतिक अनुभूतियों के घेरे से अपने भाव और विचार-जगत को अलग नहीं कर सकता, यह सब 'सूक्ष्म' के प्रति श्रौत्सुक्य या आसक्ति; वस्तुतः 'स्थूल' का ही तार्किकीकरण (Rationalization) है । स्थूल अभाव ही सूक्ष्म विरह बन बैठा है । हमारे पास इन मर्मियों के व्यक्तिगत जीवन (विशेषतः दाम्पत्य-जीवन) के सम्बन्ध में पर्याप्त संशोधन-योग्य सामग्री नहीं; अन्यथा मेरे कथन को और पुष्टि मिलती । आधुनिक रहस्यवादी सेज और शय्या का (शायद सभ्यतावश) कम प्रयोग करते हैं ।

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने रहस्यवादियों की इस लाग-लपेट, प्रतीकों का आश्रय लेकर बात करने के ढंग को विदेशी प्रभाव कहकर टाल दिया है; जैसे—“भारतीय भक्तिकाव्य को 'रहस्यवाद' का आधार लेकर नहीं चञ्चला पड़ा । यहाँ के भक्त अपने हृदय से उठे हुए सच्चे भाव, भगवान् की प्रत्यक्ष विभूति को बिना संकोच और भय के—बिना प्रतिबिम्बवाद आदि वेदान्तवादों का सहारा लिये—सीधे अर्पित करते रहे । मुसलमानी अमलदारी में रहस्यवाद को लेकर जो 'निर्गुण शक्ति' की बानी चली, वह बाहर से—अरब और फारस की ओर से—आई थी । वह देशी वेष में एक विदेशी वस्तु थी । इधर अंग्रेजों के आने पर ईसाईयों के बीच जो ब्रह्म-समाज बंगाल में स्थापित हुआ, उसमें भी 'पौत्तलिकता' का भय कुछ कम न रहा ।” (चिन्तामणि, दूसरा भाग; पृष्ठ १३६-३७) । और इस विदेशी प्रभाव के प्रति उनका पूर्वग्रह या 'प्रिज्यूडिस' है ही—“फारस की शायरी भावपक्ष प्रधान है । उसमें

विभावपक्ष का विधान नहीं या नहीं के बराबर हुआ है... वेदना की विवृति की चाल फारसी और उर्दू की शायरी में बहुत अधिक है। विभाव और भाव के सम्बन्ध का स्पष्टीकरण न होने से—इस बात का ध्यान न होने से कि मन में लाये हुए रूप किस प्रकार रस में सहायक या बाधक होते हैं—वेदना की विवृति कभी-कभी बड़े बीभत्स दृश्य सामने लाती है। अगले फूटना, मवाद बहना, कलेजा चीरना, खून के कतरे टपकना, कबाब की तरह इधर-उधर भुनना—वेदना का इस प्रकार का व्यौरा शृंगार का पोषक नहीं हो सकता।” (चिंतामणि, दूसरा भाग; पृ० ११०)। ‘काव्य में रहस्यवाद’ नामक विशाल निबंध के १२२ पृष्ठों में केवल उपर्युक्त स्थल पर वेदना का उल्लेख है। मर्मी कवियों के इस पक्ष को जैसे वे भूल ही गये; जब कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर प्राचीन साहित्य का ‘उच्च साहित्य’ स्वभाव-निसृत अश्रुजल से कलंकमोचन करते हैं और स्वाभाविक आनन्द से पुण्य का स्वागत करते हैं यह हवाला देकर टालस्टाय के लोकादर्शवाद अथवा करुणामय मानवतावाद की आई० ए० रिचर्ड्स के सहारे उन्होंने काफ़ी खिल्ली उड़ाई है। खेद से कहना पड़ता है कि शुक्ल जी की तीनों बातें गलत हैं। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी की ‘हिन्दी साहित्य की भूमिका’ में सप्रमाण सिद्ध किया गया है कि निर्गुण-भक्ति-धारा केवल वैदेशिक प्रभाव मात्र नहीं थी। उसके पहले, उसकी जड़ में कुछ स्वदेशी संस्कार-बीज भी अवश्य थे। सूफ़ी अभिमत ने सिचन का कार्यमात्र किया। फारसी-उर्दू कविता के सम्बन्ध में शुक्ल जी का दृष्टिकोण कैसे एकांगी है, यह हम आगे सिद्ध करेंगे। और वेदनावाद या टालस्टायवाली मानवता का मजाक उड़ाकर और केवल करुणाजन्य क्रोध या ‘प्रक्षोभ-रस’ का उल्लेख कर शुक्ल जी ने रहस्यवादियों की, मर्मी कवियों की अकथनीय पीर या अनन्त वेदना के साथ पूरा न्याय नहीं किया है।

मगर इस अवान्तर प्रसंग में हम कबीर को तो भूल ही गये। उसकी कविता वैसे रूखी मानी जाती है; परन्तु उसमें भी कई ‘मांसल’ प्रतीकों, उपमानों ‘साध्यवसान रूपकों’ ‘ऐसेगोरी’ की कमी नहीं है। कबीर के ये शब्द देखिये—

१

तल्फै बिन बालम मोर जिया ।  
दिन नहीं चैन, रात नहीं निदिया,  
तल्फ-तल्फ कै भोर किया ॥  
तनमन मोर रहा अस डोले,  
सून सेज पर जनम छिया ॥  
नैन थकित भए पंथ न सूझै,  
साई बेददी सुध न लिया ॥

२

कैसे दिन कटि हैं जतन बताते जइयो ।  
अँचरां फारि के कागद बनाइन,  
अपनी सुरतिया हियरे लिखाये जइयो ।

और ये दोहे—

सब रग ताँत रबाब तन, बिरह बजावै नित्त ।  
और न कोई सुनि सकै, कै साई कै चित्त ॥  
बिरह बान जेहि लागिआ औषध लगत न ताहि ॥  
सुसुकि-सुसुकि भरि-भरि जियै उठै कराहि लराहि ॥

अब तक मैने अंग्रेजी, मराठी और हिन्दी के कुछ निर्गुण-सन्तों या 'मर्मियों' की विरह-कविता के उदाहरण देकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि जितना ही ऊँचा रहस्यवाद का तार छूने का प्रयत्न किया जाता है, उतनी गहरी मौड़ उसमें से ऐन्द्रेयिक प्रेमानुभूति की (स्पष्ट फ्रायडियन शब्दों में काम-वृत्ति की अतृप्ति लालसा की) निकलती रही है। यह बहुत पुराने जमाने से होता आ रहा है। मैने आधुनिक तथाकथित रहस्यवादियों के उदाहरण जानबूझकर नहीं दिये, उनमें तो कृत्रिमता और आत्म-गोपन ही अधिक है। पुराने मर्मी अधिक प्रामाणिक थे। उनकी आत्म-स्वीकृति की उक्तियों में इसीलिए अब भी तृजगी है।

५

सूफ़ी कवि, मुस्लिम संत और उर्दू के कुछ रहस्यवादी कवियों का साक्ष्य प्रस्तुत करना चाहता हूँ। मर्मियों में पाई जानेवाली आत्म-निपीडक (मैसोकिष्ट) वृत्ति सूफ़ियों में अत्यधिक प्रमाण में है। बारहवीं सदी का एक सूफ़ी 'सनाई' कहता है—'खिरमने खुदरा बदस्ते खेरातन सोजेम मा' (हम अपने ही हाथों से अपने 'खिरमन' को—संचित शस्य को नष्ट कर डालते हैं) और वह अपनी आँखें फोड़ लेने की कहता है; प्रणय-मार्ग पर अपने पाँव तोड़ लेने की कहता है और मौत का आवाहन तो वह बच्चन के 'आओ, सो जाँएँ, मर जाँएँ', की भाँति हर घड़ी करता रहता है; 'अपने आपको सबसे पहले मिटा डाल'; 'यदि तू उस राज-राजेश्वर के दर्शनों की अभिलाषा रखता है तो उसके मन्दिर की धूल बन जा और उसके आने के मार्ग में अपनी प्रतिष्ठा का छिड़काव कर दे; प्रेम की पीड़ा का अनुभव प्रेमियों को ही हो सकता है; चलो इस प्रेमी को मार डालनेवाली प्रेमिका का शिकार बन्द पकड़ लें; और मृत्यु का सुखपूर्वक आवाहन करें। वह तो 'खयाले चेहद्वये गभाजे रंग' पर 'तौफ गह कुरँवाँ कुनेम' अर्थात् सुन्दर मुख के ध्यान में सब कुछ कुर्बान करने को तैयार है। उसके ईश्वर का रूप भी किसी 'उर्वशी' से कम नहीं है। वह कहता है—

हे ईश्वर ! तेरा रूप दुनिया की हर चीज से बड़कर है । वह अनुलनीय है ।  
तेरा कमाल आफत और नुकसान से परे है ; यानी शाश्वत है ।

मेरी आँख की पुतली तेरे दर्शनों के लिए उत्सुक रहती है । मेरे प्रेम-भरे रोगी  
प्राण तेरे प्राणों का एक अंश है ।

आज मैं अधीर हूँ, एक नवीन प्रसन्नता मुझ में जागी है । सद्भाग्य ने मेरी  
आँखों के आगे तेरा जलवा प्रकट किया ।

ऐ सुन्दर राग गानेवाली बुलबुल और द्रुतगामिनी कबक, तू प्रेम में शराबोर  
रह । प्रणय-मदिरा तेरे पंखों में सदैव उड़ने की शक्ति देती रहेगी ।

तेरा गाना सुनकर जोहरा मोहित हो गया ; तेरा जमाल (रूप) देखकर  
खुरशेद (सूर्य) भी लज्जित हो गया ।

तेरा बेल-बूटे से सुसज्जित शरीर दर्शनीय है ; क्योंकि यह तेरा बना-सँवारा  
शरीर मुझे रोज नये ढंग से लुभाता है ।

मैं अपने प्राणों को भी कृतज्ञतापूर्वक तुझ पर वार दूँ ; क्योंकि तेरी मिलन की  
सुगन्ध ही दो सौ प्राणों के बराबर है ।

और एक-दो सूफ़ी लीजिए—हाफ़िज़ (चौदहवीं सदी) और जामी (पन्द्रहवीं  
सदी) से कुछ उदाहरण अपने कथन की पुष्टि में दूँ, हाफ़िज़ के 'दीवान' से कुछ चुने  
हुए चित्र देखिये—

“बहु मुश्की रंग की अलकें न मालूम किधर छिप गई हैं ? हमारा दिल चुपचाप  
एक कोने में दुबका बैठा है—प्रियतमा की भौंहें कहाँ हैं ?”

“आज माशूकों के जमाव में, सम्राट् एक ही है । मैंने उसी को पाने के लिए  
दोनों जहानों को मिटा डाला । दोनों जहानों का अन्त एक ही है ।”

“तेरे काले अलकों के जाल में यह हृदय अपने आप ही जाकर फँस गया है ।  
अपनी तिरछी चितवन से, अपने पैने कटाक्षों से, तू उसे मार डाल ; यही उसका  
दण्ड है ।”

“जिसने अपनी प्रियतमा का अंचल छोड़ दिया है, उसे स्वर्ग की अप्सराओं के  
ओठों से भी आनन्द प्राप्त न होगा ।”

“अगर तेरा यार तुझ पर अत्याचार करे, वादाखिलाफी भी करे, तो किसी  
से शिकायत मत करना । उस यार ने तेरे भाग्य का निर्णय इसी प्रकार किया है ।  
उसके अन्याय को ही न्याय समझना ।”

“मैं उस दृष्टि की बलिहारी जाता हूँ, जिसने प्याले से लगे हुए ओठों को  
पहली रात का चाँद और साँने के मुख को चौदस का चाँद समझा ।”

“हृदय उसके प्रेम का स्थान है ; आँखें उसकी सूरत के आईने ।”

“मैंने दुनिया की सभी वस्तुओं से मुख मोड़ लिया है। अगर मेरे ध्यान में कोई वस्तु समाई हुई है, तो वह है मेरे यार का मुखड़ा।”

“प्रणय-मार्ग अनन्त है। उस मार्ग में अपने आपको मिटा डालने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं।”

“तेरे मुख के प्रकाश से सभी निगाहें प्रकाशित हो रही हैं। तेरे मुख की बड़े-बड़े नजर लड़ाने वाले देखते हैं, और ऐसा कोई नहीं, जिसका दिल तेरे काले अलकों में न उलझा हो। मेरे ये चुगली खानेवाले आँसू क्यों न लाल रंग के होकर निकलें ? दूसरों के रहस्य को खोलनेवाली सदा लज्जित होती ही है। ऐ मिठास के सोते, तेरे मीठे ओठों की स्पर्शा में सभी प्रकार की शक्करें पानी में डूब चुकीं...”

और ‘जामी’ का भी वही रंग है।

“दिल का अस्तित्व प्रेमी की जलन में ही है। और प्राण का सिर प्रणयी के चरणों पर पड़ा हुआ है। जब तक दिल किसी के अधिकार में नहीं चला जाता, उसे प्रणय का अनुभव नहीं होता। और प्रणय की अनुभूति के बिना दिल का होना न होना बराबर है। ऐ प्रणयी ! तेरा काम सुन्दरियों ने बिगाड़ रखा है और उनके तीखे कटाक्षों का शिकार बनकर तुझे सहस्रों विपत्तियों का सामना करना पड़ रहा है।”

“तेरा साथी तेरे साथ बैठा हुआ स्वर में स्वर मिला रहा है और तू उसकी विरह-व्यथा में अपने-आपको घुलाये डालता है।”

“मैं अपने यार के साथ घूमता हुआ उपवन में पहुँचा और धोखे से एक दूसरे पुष्प की ओर देखने लगा। मेरी प्रियतमा ने ताने के साथ कहा—‘तुझको अपने कार्य पर लज्जित होना चाहिए। मेरा कपोल तेरे सम्मुख है और इस पर भी तू दूसरे पुष्प पर नजर डालता है !’

“मैंने अपने गुलाब-से मुखवाली प्रियतमा से कहा—‘ऐ सुन्दरी ! तू मानिनी के समान अपना मुँह क्यों छिपाये रहती है ?’ उसने मुस्कराकर जवाब दिया—‘मैं सांसारिक प्रेमिकाओं से भिन्न हूँ। मैं पर्व के भीतर साफ़ दिखलाई देती हूँ; परन्तु उसके बाहर छिपी रहती हूँ। ...सूर्य जब पूर्णतः प्रकाशित होता है, हम उसे देख नहीं सकते; परन्तु जब वह बादलों के अन्धर होता है—सरलता से देखा जा सकता है।’”

उमरखय्याम की रूबाइयों में भी यही भाव है—“मैं तेरी इच्छा पर निर्भर हूँ। प्यारे, तू मुझे अपने वियोग में जितना तड़पाना चाहे, तड़पा। मैं एक अक्षर भी शिकायत में न कहूँगा। जिस हृदय में प्रेम की लगन लग गई, न उसे स्वर्ग की इच्छा है, न नरक की चिन्ता। ...धर्म तथा उसके प्रतिकूल चलने में ज़रा-सा ही अंतर है। ...कोई भी हृदय ऐसा नहीं, जो तेरे विरह से पीड़ित न हो...सांसारिक प्रणय

अधजली अग्नि के समान है; ईश्वर-प्रेम सदैव जलनेवाली अग्नि के समान तू मुझे इसबाह्य सौन्दर्य के विषय में पूछता है। यह जीवन एक नदी से उत्पन्न हुआ, फिर उसी में जाकर विलय गया। लोग मुझे शराबी कहते हैं; निस्सन्देह मैं ऐसा हूँ। परन्तु मेरी बाह्य दशा पर अधिक ध्यान दो। '...मैं जितना ही अपने आपको भिटाता जा रहा हूँ, उतना ही मेरा जीवन बढ़ता है। इस जीवन की तरफ से जितना ही सतर्क हो रहा हूँ, उतना ही उसमें और फँसता जा रहा हूँ।' बारहवीं सदी के उमर अल खैयामी की ये सूक्तियाँ, याद रहे, भौतिकवादी यूरोप में बहुत समादृत हुईं। क्योंकि उनमें जीवन की स्वच्छन्दता, प्रणय की अवधि निर्वन्धता तथा यौवन के अनन्त सौख्य पर आध्यात्मिक आवरण मात्र है।

६

अब मुस्लिम सन्तों और उर्दू के एक-दो रहस्यवादी कवियों की बात करें।

१. एक बार अबुबकर सबली बहुत दिनों तक गायब रहे। बहुत खोजने पर भी उनका पता नहीं लगा। बहुत दिन बीत जाने पर एक दिन नपुंसकों की बस्ती से बाहर आते दिखाई दिये। लोगों ने पूछा—“महात्मा, इनके साथ रहना क्या आपको शोभा देता है?”

सबली—“हाँ, वही मेरे लिए उचित स्थान था। इस दुनिया में जिस तरह नपुंसक न स्त्री हैं न पुरुष, उसी तरह परमात्मा न स्त्री है न पुरुष।”

२. तपस्वी जुन्नून ने एक बार एक स्त्री से पूछा—“बहन, प्रेम की सीमा कहाँ तक है?”

वह बोली—“भाई! प्रेम-पात्र यदि असीम और अमाप हो तो फिर प्रेम की सीमा कैसी?”

जुन्नून ने कहा—“कल रात मैंने एक सपना देखा। मैं नदी-तट पर गया हूँ। ज्यों ही मैं वजू करने के लिए पानी में उतरा, मेरी दृष्टि एक मकान की छत पर पड़ी। वहाँ एक अतीव सुन्दरी युवती खड़ी देखी। मैंने उससे पूछा—‘हे सुन्दरी! तू किसकी स्त्री है?’

“युवती ने कहा—‘जुन्नून, मैंने तुम्हें दूर से देखकर पागल समझा, नदी-तट पर आने पर ज्ञानी, वजू करने को उतरने पर ईश्वरदर्शी साधु; पर मालूम होता है, तुम न तो उन्मत्त हो, न ज्ञानी, न ईश्वरदर्शी साधु ही।’

“मैंने युवती से उसके कथन का स्पष्टीकरण पूछा तो बताया—‘अगर तू ईश्वर के प्रेम में पागल होता तो वजू नहीं करता; ज्ञानी होता तो परायी स्त्री पर दृष्टि नहीं डालता; और ईश्वरदर्शी होता तो तेरी नज़र और कहीं नहीं दौड़ती।’

इतना कहकर वह युवती गायब हो गई। मैंने उस युवती को देवदूती समझा।

मेरे मन की आग भभक उठी। ज्ञान-शून्य होकर मैं वहीं पानी में गिर रहा।”

मैं यहाँ इतना ही सुनाता हूँ कि यदि फ्रायड को इस स्वन का अर्थ करने को कहा होता तो वह क्या करता ?

३. एक बार तपस्वी अबु हाफिज ने साधु शाहशुजा को इस भाव का पत्र लिखा—“बन्धु ! अपनी इन्द्रियों की विषयवासना तथा अपने अपराधों को विचारकर—मैं तो निराश हो गया हूँ।” उत्तर में शाहशुजा ने लिखा—“इन्द्रियों के बारे में विचार करे तो सचमुच निराशा होती है। केवल ईश्वर की महानता ऐसी एक वस्तु है जिसका विचार कर मन आशान्वित होता है। मैं जिस समय इन्द्रियों का निग्रह करने में असमर्थ हो जाता हूँ, तो परमेश्वर का स्मरण करता हूँ।”

४. और यह नीचे की कहानी तपस्वी मुहम्मदअली हकीम तरमोजो की है। आप निष्कर्ष स्वयं निकाल लें—

वे बहुत खूबसूरत थे। जवानी में एक धनवान सुन्दरी युवती कामवासना से उनके पास आई। उसने अपनी मंशा उन्हें कह सुनाई; पर उन्होंने उसे ऐसी बात के लिए माफ़ इनकार कर दिया। कुछ दिन बाद वे एक दिन बगीचे में बैठे थे। वही युवती सज-धजकर वहाँ आई। मुहम्मदअली उसे देखते ही वहाँ से चल दिये। युवती ने उनके पीछे दौड़कर कहा—बिना किसी कसूर के मेरी जान क्यों ले रहे हो ? उसके शब्दों को सुने बिना ही वे दीवार फाँदकर भाग गये। बुढ़ापा आने पर उन्होंने उस पुरानी बात को याद करके विचार किया कि मैं उस दिन उस जवान औरत की मंशा पूरी कर देता तो क्या हर्ज था ? पीछे पश्चात्ताप करके प्रायश्चित्त कर लेता। ऐसा विचार मन में आते ही उनकी धृणा का पार न रहा और मन में उन्होंने कहा—अरे दुराचारी पापी मन ! जवानी में जिस भाव को तू दबाये रहा, वही भाव इस बुढ़ापे में यों उठ रहा है। तू कितना दुष्ट है ! इसी बात को लेकर वे तीन दिनों तक बिना खाये-पिये रोते रहे।

—मुस्लिम संतों के चरित्र : पृ० २४

उर्दू के रहस्यवादी कवियों की चर्चा करें। वैसे तो सूफ़ियानी उक्तियाँ थोड़ी-बहुन सभी उर्दू कवियों ने कही हैं। परन्तु आसी, गालिब, इकबाल और जिगर में वे विशेष रूप से दिखाई देती हैं। ‘मन को मन से तौलिये, दो मन कभी न होय’ कहनेवाला आसी ‘मैं अप्रंख, पिय द्वार’ कहकर तिलमिलाता है। किस अकुलाहट के साथ उसने प्रेम का यह प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक सूत्र कहा होगा, जिसमें द्वंद्वालसकता भी है। प्रेम वह शक्ति है, जो स्व-केन्द्रित तथा सर्व-केन्द्रित रूपों में गत्यात्मिका है—

‘इश्क कहता है आलम से जुदा हो जाओ।’

हुसैन कहता है जहाँ जाओ नया आलम है !’



गालिब से मैं बहुत उदाहरण देना चाहता था। परन्तु यहाँ जब मैं यह लेख लिख रहा हूँ, उसका दीवान उपस्थित नहीं। स्मृति के सहारे, मुझे उसकी 'नुवतचीं है गर्म दिल'... वाली गज़ल याद आ रही है जिसमें वह कहता है कि 'आतिशे दिल वह है कि लगाये न' लगे, बुभाये न बुझे; और 'दर्द का हव से गुज़रना है दवा हो जाना' में जहाँ काँटों को देखकर अबलों से भरे पाँवों में पथ में चलने की हौस बढ़ता है; और इसी प्रेम की पीर को उन्होंने अनन्त वेदना के रहस्यवादी रूप में भी लपेटा है—

गुफ्तम् हृदीस दोस्त वकुरआँ बराबरस्त ।  
नाजम बकुफ़ खुद कि बईयाँ बराबरस्त ।  
बाचारा गर मगोरा कि तीमार पेशकश ।  
दर्देस्त दर दिलम किब दरमाँ बराबरस्त ॥

इस फारसी रुबाई में भी गालिब ने दोस्त (प्रिय आराध्य) की बातों को क्षुरान के बराबर बताया है। अपनी नास्तिकता को आस्तिकता के समक्ष बिठलाया है और हृदय की पड़ेड़ा का उपचार कह डाला है।

इकबाल एक सच्चे प्रेमी की भाँति निराशाओं और संकटों के बीच अपने प्रेम का सहारा पकड़े चलते हैं और उन्हें उम्मीद है कि उनका प्रेम अंततः सफल होगा। आध्यात्मिक साधना के पथ पर सच्चे प्रेम का महत्त्व वे समझने लग जाते हैं; वहाँ ज्ञान राह नहीं दिखा पाता, प्रेम ही अकेला मार्गदर्शक दीपक है; 'था यह भी नाज कैसा बेनियाज का। अहसास दे दिया मुझे अपने गदाज का।' यह भावना इकबाल में तीव्रतर होती जाती है और वह प्रेम की चिनगारी जो उसके हृदय में मुलग चुकी है, बढ़ते-बढ़ते ज्वाला का रूप ले लेती है। वह सत्य की झलक पाने लगता है—

जब से आबाद हुआ इश्क तेरे सीने में;  
नये जौहर हुए पैदा मेरे आईने में !

अन्ततः दैवी कृपा से उस प्रेमी को दैवी मिलन का अनुभूत आनन्द प्राप्त हो जाता है। वह अपनी सर्वश्रेष्ठ प्रिया के जा-ब-जा खड़ा हो जाता है, जिसे वह इतने दिनों तक खोजता था और एक स्वप्न में चलनेवाले की भाँति, अपने कैवल्यानन्द का धन्यता के परम भव्य अनुभव से आश्चर्य-चकित हो जाता है। जब वह उस दैवी रूपसी को अपनी सोलहों कलाओं से पूर्ण देखता है, तो उसके लवों पर महामौन की मुहर छाप दी जाती है, उसकी जिह्वा अटकती है; और महान् अभिमान से उसका हृदय कह उठता है—

क़शादह दस्त करम जब बेनियाज करे,  
नयाजमंद न क्यों माँगने पर नाज़ करे ?

‘असुरारे-खुदी’ की भूमिका में निकोलसन को लिखे एक पत्र में भी यही व्यक्त व्यक्त है ।

उसे सहसा अपनी प्रसुप्त शक्तियों का भान हो आता है और अपने आपको एक मर्त्य से अधिक न मानते हुए भी उसमें कुछ आ जाता है जिससे वह अकरूपनीय ऊँचाई पर पहुँच जाता है ।

उनकी कोदोंवा की मस्जिद में लिखी एक कविता है—‘दुआ’, जिसमें वे कहते हैं—“मेरा नीड़ किसी सांसारिक श्रेष्ठ पुरुष या मंत्री के दरवाजे पर नहीं मिलेगा । तू ही मेरा नीड़ और तू ही मेरी शाखा है । तेरे ही कारण मेरा गरेबाँ चमक रहा है । ‘अल्ला-हु’ (अकेला परमात्मा ही है; एकमेवद्वितीयम्) की अग्नि तुम्हीं ने मेरे हृदय में जलायी । तू ही मेरे जीवन, करुणा, दुख-सुख, दर्द और हर्ष का स्रोत है । तू ही मेरा काम है, तू ही मेरा काम्य है ।”

‘जिगर’ के भी कई उदाहरण दिये जा सकते थे, जिसमें वह ‘मौत क्या है एक लफ्जे-बेमानी, जिसे मारा हयात ने मारा’ कहता है या प्रेम की व्याख्या ‘सिम में तो दिले-आशिक, फँले तो जमाना है’ करता है । अपनी गजलों में उसने प्रेयसी के मिलन की समानता कई जगह प्रतिपादित की है—

हमीं पै इश्क की तोहमत लगायी जाती है ।  
मगर ये शर्म जो चेहरे पे छायी जाती है ॥  
बना बना के जो दुनिया मिटायी जाती है ।  
जखर कोई कमी है जो पायी जाती है ॥  
नकाब दुआलम उठाई जाती है ॥

उर्दू सूक्तियों का प्रभाव रवीन्द्रनाथ और अन्य बंगाली कवियों पर जैसे पड़ा है, गुजराती कवियों पर भी वह कम नहीं है । ‘कलापी’ ने उसी ‘पैन्थोस्टिक’ (सर्वान्तर्यामी परमात्मा में विद्वास—‘खल्विदम्ब्रह्म’) भोंक में कहा है—

ज्यां ज्यां नजर मारी करे, यादी भरी त्यां आपणी ।  
वादल ऊपर बादल तहाँ गैबी कचेरी आपणी ॥ इत्यादि ।

प्रेम को आग के समान मानकर प्रेमी के जलने का भी अनुभव कलापी ने कहा है—

काँई मिठुं सुख नकी हश, प्रेमी ने बाकवांसां ।  
के कै तेथी वधु सुख हशे, प्रेमी ने दाभवांसां ॥

—कलापी

‘कलापी’ से भी अधिक उसके शिष्य और ‘केकारव’ के संकलन और स्वयं एक सन्त सागर महाराज के पद देखिये—

१. प्रीति थी छाती छाई : अगर ऊँडी घवाई : भना  
 ओ भाई ! भाई—जिगरनी ए लगाई !  
 अने फरजन्द माटे जिगर फाटे न फाटे छताँ छोड़ूँ  
 उचाटे सनम की दिल दुहाई !  
 बघाँ पर पांख त्हारी सनम रहें तो पसारी दिले  
 बस ए बिचारी बग्यो माशूकशाही !

—सागर महाराज

२. शूँ आ कविता, गजल, बेतो रमुजी कोई छे किस्सो ?  
 हमारा आसुमां बोलो तमारो केटलो हिस्सो ?
३. मीरां तणुं हृदय शूँ नहीं कृष्ण जागो ?  
 फर्हादनु रुदन शूँ शिरीन मापे ?  
 कोईक फिल्सुफी बिना मजनूँ रडे छे !  
 अएने शूँ भाष्य कशुं ये भगवुं पडे छे ?  
 म्हेने रोतो जुवो त्हो ये फिल्सुफी न सूणावशो,  
 अने डूँडूँ विचारुं तो, खुलासो न करावशो ।
४. सागर, पी ले ले शी शरम ? खिलती  
 जवानी की कसम !
५. छो होय जड या चेतना  
 दिल एक्यां हो पूर फना,  
 तो खुद खुदानी कशी तमां ?  
 छुं छे खुदा ? म्हारी सनम !  
 कलुं शूँ हुं वेद पुराणने ?  
 शूँ तीर्थ, संध्या, स्नान छे ?  
 दिलबर जही दिल जान छे !  
 तूही तूही म्हारी सनम !  
 दुनियांनी इज्जत आबरू  
 ऐनुं शूँ प्हेरूँ पाथरूँ ?  
 सारी जहाँ नं शूँ कलुं ?  
 तू रूबरू हो म्हारी सनम !

उसी प्रकार से अनन्तदास जी की भी यह उर्वित लीजिए—

रूपर्मा मोहक ने जगओते रूपाकां रे

—अनन्तदास जी

गुजराती 'भक्तमाल' पुस्तक से ये लिये हैं; किसी साहित्य या शृंगार-रस की पुस्तक से नहीं।

इस प्रकार मने अनेक काल-खंडों के मर्मी कवियों की उक्तियाँ देकर यह बतलाया है कि उसके विरह-वर्णन में, प्रेम की आर्त-पीड़ा की व्यंजना में, यौन-संकेतों की, शृंगारी प्रतीकों की पुनरावृत्ति प्रचुर मात्रा में पाई जाती है। ऐसा क्यों है, इसकी विवेचना से पहले मुझे 'मर्मी' अथवा 'रहस्यवादी' तथा 'अश्लीलता' शब्द की व्याख्या कर देना उचित जान पड़ता है, जिससे मेरे आक्षेपकों के तर्कों का प्रतिवाद भी कुछ अंशों में होगा। अंत में, मै फ्रायड का धर्म-सम्बन्धी मत देकर अपने निष्कर्षों पर आऊँगा।

७

जब मैंने इस लेख का पहला भाग (जो 'पारिजात' में प्रकाशित हुआ था) लिखा, तब अपने मित्र 'आत्मतंत्रदर्शन' के लेखक तथा दर्शन-शास्त्र के काशी विश्व-विद्यालय के डाक्टर ना० वि० जोशी को दिखलाया। उनके आक्षेप निम्न थे—

१. आलोचना की यह पद्धति कि आलोच्य कवि की रचना को ही देखें, कवि का उल्लेख न लायें, गलत है। एक ही भाव एक राह चलता 'लोफर' लिखेगा और ज्ञानेश्वर या कबीर व्यक्त करेंगे, तो अवश्य उसमें अन्तर करना ही होगा।

२. मर्मी या रहस्यवादी वह है जो अपने अहम् को मिटाकर, उसे लांघकर सर्वव्यापी बनाता है। यौन-प्रश्नों में उलझनेवाला भोग-विलासी स्वार्थी और स्वकेन्द्रित होता है।

३. अतः इस लेख में लेखक की विकृत मनोवृत्ति व्यक्त होती है। सन्त-कवियों के अन्य श्रेष्ठतर काव्याङ्गों को छोड़कर यही अश्लीलतासूचक वचन क्यों चुने गये? 'अज्ञेय' आदि आधुनिक वर्जनाओं के कवियों की विचारधारा का यह प्रतिफल है।

दुबारा नागपुर के प्रो० वनमाली तथा शरच्चंद्र मक्तिबोध के सामने इसी निबन्ध की चर्चा उठी। तब प्रो० वनमाली का मत इस प्रकार का था कि सन्त कवियों पर यौनवर्जनाओं का आरोप एक प्रकार का मूर्तिभंजन है। यह काफ़ी ख़तरनाक 'थोसिस' है। आपको उनमें अश्लीलता सिद्ध करने के पूर्व जैसे मार्क्सवादी मानते हैं, यह सिद्ध करना होगा कि उनका आविर्भाव काल ही ऐसा था, जिसमें पराक्रम को कहीं मार्ग नहीं मिलता था। गत्यवरोध था—अतः उनके वचनों में, प्रतीकों तथा उपमानों में यौन-संकेतों का आधिक्य आया। जैसे अठारहवीं सदी का फ्रांस का साहित्य। शरच्चन्द्र मक्तिबोध के अनुसार संतकवियों पर निर्णय देते समय उनके काल, उनकी जीवनी तथा परिस्थितियों का तो विचार करना ही होगा—उससे निरपेक्ष उनकी कृतियों का स्वतन्त्र परीक्षण सम्भव नहीं। यद्यपि वे यह मानने को तैयार नहीं

थे कि चूँकि एक कवि सन्त है; अतः उसे अलग पैमाने से नापें और अन्य आधुनिक शृंगारी कवि है तो उसे अन्य पैमाने से ।

इस चर्चा के बाद दूसरे दिन एक और मित्र श्री राजेन्द्र सेठी मिले । उन्होंने मेरे मतों की पुष्टि की और बतलाया कि होली के गीत जो गाये जाते हैं, उसी प्रकार के 'मे डे' और फ्रांस के कुछ वसंतोत्सवों में गीत गाये जाते हैं—और समाज-शास्त्र के इतिहास में ऐसे 'सेप्टी-वाल्ज' समूहों ने प्रयुक्त किये हैं । अतः सन्तों के उद्धारों को अश्लील न कहते हुए उन्हें तान्त्रिकों के 'जोगिडों' के समकक्ष मानना चाहिए । इस चर्चा से अश्लीलता का प्रश्न द्रष्टव्य हुआ । सेठी जी के अनुसार शृंगार-व्यंजना सर्वत्र एक-सी हैं ।

कुछ अन्य मित्रों ने कहा कि यह तो निरा एक 'स्टैंट' है । लेखक की वृत्ति है कि वह कुछ-न-कुछ नयन के नाम पर चौंका देनेवाला साहित्य लिखा करे । इसमें इतनी गंभीरता से सोचने की कोई बात नहीं । क्योंकि ऐन्द्रेयिक आनन्द और ब्रह्मानन्द सहोदर काव्यानन्द दो भिन्न कोटि की वस्तुएँ हैं; दोनों में गुणात्मक अन्तर है ।

कुछ इसी प्रकार के आक्षेप 'पारिजात'-संपादक ने अपने 'मई' अंक के सम्पादकीय नोट में उठाये हैं—(क) सन्तों की रचनाओं का अब तक ऊहापोह इस दृष्टि से नहीं हुआ, अतः 'मेरे मन्तव्य विवादास्पद है । (ख) 'बोये पेड़ बबूल के आम कहाँ से पायें ?'—यदि सन्तों की विरह-व्यंजना के मूल में अतृप्त काम होता, तो फिर इसका फल इतना सुन्दर या मधुर क्योंकर हुआ है ? (ग) फ्रायड का उक्त सिद्धान्त स्वयं विवाद से परे नहीं (स्वयं दोषाच्च), (घ) सन्तों की अतृप्त इच्छाओं का मार्गान्तरिकरण हुआ है अथवा शोध (Sublimation) यह स्पष्ट नहीं हुआ, (ङ) सिनेमा के गीत आज प्रचलित हैं । चूँकि उनमें अश्लीलता और कामोद्दीपन है । वे समाज के लिए हानिकर हैं । सन्तों के गीत जिस समाज-परिस्थिति में छापे की सुविधा के बिना भी लोकप्रिय हुए, और उसका अनिष्ट परिणाम समाज पर नहीं पड़ा, अवश्य सिनेमा के गीतों से भिन्न कोटि के थे ।

अब इन सब आक्षेपों का उत्तर, मैं आगे रहस्यवाद तथा अश्लीलता की जो चर्चा करने जा रहा हूँ, उसमें से मिलता ही जायगा; परन्तु अन्तिम मेरे निष्कर्षों में और समारोप में मैं इन सब आक्षेपों का सम्पूर्ण खण्डन उपस्थित करूँगा ।

आइये, इसी से शुरू करें कि रहस्यवाद क्या है ? पं० रामचन्द्र शुक्ल के काव्य में 'रहस्यवाद' की संतोषजनक परिभाषा नहीं मिलती । मैं पाँच-छः बड़े कविचितकों के इस सम्बन्ध में मत देना चाहता हूँ । (अ) 'साधना' नामक अंग्रेजी लेख-संग्रह में पृ० १४२ पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा है—“रहस्यवाद की कविता को एक ओर

वास्तव के स्वप्न के प्रति स्वभावानुसार प्रतिक्रिया कह सकते हैं, दूसरी ओर भविष्य-वाणी।”<sup>१</sup>

(आ) एलबर्ट श्वाइत्ज़र ने ‘भारतीय विचार और उसका विकास’ नामक ग्रन्थ में यह बतलाया है कि ब्राह्मणों का अथवा वैदिक रहस्यवाद नीति-अनीति से परे है; परन्तु वह नीति या नैतिकों से भिन्न प्रकृति वाला है। वह कांट के नैतिक तथा नीत्योंपर रहस्यवाद की भाँति द्वंद्वात्मक है : उसमें विश्वात्मा तथा मानवात्मा को एक ओर तद्रूप, तदंगभूत माना गया है; दूसरी ओर विश्वात्मा के सम्मुख मानवात्मा अपने अज्ञान का ध्यान करती है (स्पिनोज़ा के ‘ड्यूका इन्तोरॉटिक’ की भाँति)। रहस्यवाद का पहला रूप नीत्योंपरि (नॉनएथिकल) है, तो दूसरा नीतिबद्ध या नैतिक। भारतीय रहस्यवाद में, श्वाइत्ज़र के कथनानुसार जगज्जीवन-स्वीकार तथा जगज्जीवन-नकार या प्रवृत्ति और निवृत्ति का संघर्ष है। एक ओर तो ज्ञान को, सांसारिक अनुभवों को त्यागने का उपदेश होता है (मुसल्ला फोड, तसबीह तोड़, किताबें डाल पानी में—); दूसरी ओर विश्वात्मा की एक प्रकार की सृजनशील प्रवृत्ति माना है, जिसका निरूपण भगवद्गीता, फिख्टे और टेंगोर में एक-सा मिलता है। ‘सा तपस तपत्वः सर्वम् असृजत यदिदर्शिकच’ अर्थात् परमेश्वर ने यह सब कुछ जो है, वह अपने ताप (दुख) के उत्ताप से निर्मित किया। प्रश्न हो सकता है कि परमेश्वर को यह दुख हुआ क्यों? इस प्रकार चर्चा कर श्वाइत्ज़र भारतीय रहस्यवाद के कुछ प्रमुख सिद्धान्तों का संक्षेप में निरूपण करता है—(१) निवृत्ति, (२) कर्म से अकर्म की प्रधानता, (३) अनन्त आत्मा से सक्रिय संयोग, (४) आदिमाया या सृष्टि की एक अनबूझ पहली है और (५) नीति-अनीति से परे रहने की आवश्यकता। श्वाइत्ज़र ने शंका उपस्थित की कि ज्ञान तथा अनुभूति के क्षेत्र को छोड़कर केवल कर्म या योग द्वारा ही अनन्त आत्मा से महामिलन कैसे सम्भव है?

(इ) टी० एच० ह्यू ने ‘दी फिलोसोफिकल बेसिस ऑफ मिस्टीसिज्म’ में प्रतिपादित किया है—“रहस्यवाद का अर्थ है प्रेम-मार्ग से परमात्म-प्राप्ति तथा उसके लिए आवश्यक सफल सेवा के आदर्श से प्रेरित किसी भी व्यक्ति का आत्म निरपेक्ष आग्रह।”

(ई) अब सबसे महत्त्वपूर्ण सम्मति है कुमारी एबिलीन अंडरहिल की जिसने रहस्यवाद पर एक स्वतन्त्र ग्रंथ ही लिखा है। रहस्यवाद तथा कला का सम्बन्ध बताते हुए यह कहती है—“बहुत थोड़े लोग ऐसे हैं जो इस रहस्यानुभव की भलक अपने

---

१. The poetry of mysticism might be defined on the one hand as a temperamental reaction to the vision of reality, on the other as a form of a prophecy.

जीवन में न पाते हैं। जो पुरुष प्रेम का शिकार होता है और यह अनुबोध उसमें जागता है कि इस 'लड़की' नामक संज्ञा से अभिधेय व्यक्ति में एक अत्रार्थनीय, अनिर्वचनीय वास्तविकता निहित है, अथवा वह कवि जो प्रकृति में एक अनुभूत आभा के दर्शन करने लगता है, जो इस छायापृथ्वी पर अलौकिक रूप से फैली है; अथवा वह जो अरूप की चिन्ता करता है और जो सहसा साक्षात्कार से हृदय-परिवर्तन अनुभव करता है, इन सबों ने एक क्षण के लिए क्यों न सही, इस जगद्ग्रहस्य को जान लिया। 'कलाओं में यही 'इन्ट्यूशन' (प्रज्ञा) अभिव्यक्त है; बल्कि कहता था, चित्रकला संगीत, काव्य सब इन्हीं अमर-भावों में रहते हैं और उन्हीं में रमते हैं। 'कला आभास और वास्तविकता के बीच की कड़ी है। रहस्यवाद इसी दृष्टि से कलाओं की कला है। प्रतीक वह आवरण है, जो आध्यात्मिक आशय व्यक्त करने के लिए भौतिक सतह से उधार लेना पड़ता है, एक कलाभिव्यंजना है। उसे अक्षरशः न लेते हुए, उसके व्यंग्य और ध्वन्य पर ध्यान देना चाहिए। इस कारण जो व्यक्ति यह समझते हैं कि सन्त कैथारिन या सन्त टेरेसा के 'आध्यात्मिक परिणय' के भीतर एक प्रकार की 'विकृत यौनलालसा, विद्यमान है, या जो पवित्र हृदय के स्वप्न को इस प्रकार का असम्भव शारीरिक अनुभव मानते हैं या तो सूक्ष्मियों के देव नशे को निरा मतवालापन समझते हैं। वे कला के तन्त्र-सम्बन्धी अपने अज्ञान का प्रदर्शन करते हैं।<sup>१</sup>

(३) ए० सी० बोके के 'तुलनात्मक धर्म' में ग्यारहवां अध्याय 'रहस्यवाद' के सम्बन्ध में है, जिसमें ईसाई, मुस्लिम, हिन्दू, बौद्ध सभी रहस्यवादियों की निम्न प्रवृत्तियाँ प्रधान या सर्वसामान्य मानी गई हैं—

(१) सब विभेद या अलगापन भूटा है। संसार अभेदात्मक है।

(२) पाप भूटा है। पाप संसार के किसी अशुद्धि-क्षेत्र को स्वाधीन मान लेने के कारण है।

(३) काल भी भूटा है। सत्य या वास्तविकता शाश्वत है; वह कालातीत है। बोके प्लेटो और आँगस्टाइन के रहस्यवाद को हिन्दू उपनिषदों से प्रभावित मानता है। प्रादलक 'स्यूडो-डायोनिशियस' ग्रंथ का आधार ईसाई चिन्तकों के क्षेत्र से बाहर का है। उसमें 'सुषुप्ति' तक का उल्लेख है। गजाली ने इसी ग्रंथ के निम्न तत्त्वों को

---

१. Mysticism is not an opinion...it is not a philosophy. It is an art of establishing conscious relation with the Absolute. It consists in—Not to *Know about*, but to be.

अपने आप में मिला लिया है—(क) परमात्मा अकेला है। वही सब चीजों में है; सब चीजें उसी में हैं। (ख) उसी से सब चीजें निकली हैं। उससे अपर उनका मूल्य नहीं। (ग) धर्ममात्र व्यर्थ है। वे सिर्फ पन्थ हैं। उनमें इस्लाम सबसे लाभदायक और उसमें सूफीमत सच्चा फिलसूफ है। (घ) पाप-पुण्य में कोई अन्तर नहीं, क्योंकि परमात्मा ही सबका बनानेवाला है। (ङ) परमात्मा ही मनुष्य की इच्छा-शक्ति का प्रणेता है। अतः मनुष्य अपने कर्मों में स्वतन्त्र नहीं। (च) आत्मा शरीर से पहले थी। शरीर पिंजरा है; आत्मा उसमें तोते की तरह बद्ध है। मृत्यु काम्य है; इसी मार्ग से पिंजरा-द्वार खुल जाते हैं; सूफ़ी की आत्मा अपने 'नशेमन' में लौट जाती है। (छ) परमात्मा की दया के बिना कोई भी इस आध्यात्मिक महामिलन को प्राप्त नहीं कर सकता; हाँ, हार्दिक प्रार्थना से वह दया प्राप्त की जा सकती है। (ज) सूफ़ी का प्रधान कर्तव्य है इस परमात्म-संयोग का चिन्तन करना। परमात्मा के विभिन्न रूपों का ध्यान, नामों की स्मृति करना और 'तारिकत' (जीवन-यात्रा) में उत्तरोत्तर बढ़ना।

हमारे यहाँ तान्त्रिकों ने भी यह जीवन-यात्रा पंचमकार से विभूषित कर डाली थी। महानिर्वाण-तन्त्र के दशम पटल में मैथुन के सम्बन्ध में कहा है कि 'जो वह करता है, वह मैं (शिव) ही हूँ।' ध्यान रहे शिव सदा-शिव है, अर्थात् हमेशा अच्छे; पाप-पुण्य से परे !

उपर्युक्त चर्चा से सिद्ध हो गया कि रहस्यवाद की एक निश्चित परिभाषा नहीं है। सभी रहस्यवादी विचारधाराएँ स्थूल का आधार आवश्यक समझती हैं, जैसे तैराक एक 'फ्लोटबोर्ड' का सहारा लेता है। चहेबाद में वह स्थूल वे छोड़ दें; परन्तु उस प्रतीक-संकेत आदि रूपों में उसी की ओर बार-बार ध्यान जाता जरूर है। 'जलबीज' रहकर भी किनारे का ध्यान छूटता नहीं। रहस्यवादी की अवस्था एक प्रणयी के समान है—दोनों आर्त है; दोनों की 'शाश्वत टोह' चल रही है। कोई दिलवर को अपने अंदर ढूँढ़ने में मग्न है (नारसिंहात्मकता—स्वरत्यात्मकता); कोई दिलवर को पुरुष-रूप मानकर 'हमारे राजा राम भरतार' का गान कर रहा है या सखी सम्प्रदाय की माधुरी-भक्ति अपना रहा है; कोई सनम को माशूक मानकर स्वयं मन्सूर और सजनू बन रहा है; कोई परमपिता परमात्मा या आदि-जननी के आगे 'हम बालक' कहकर 'यूडिपस कॉम्प्लेक्स' का शिकार बन रहा है। काम के विविध रूपों से भागने की, उसे अवरोध करने की छटपटाहट सर्वत्र है; और जिनना ही उसे निरुद्ध करने की कोशिश की जाती है; उतना ही वह गहरा पंठता है। 'न प्रतीके न हि सः' प्रतीक के बिना 'वह' नहीं।

अतः यह सारा रहस्यवाद एक महान् आत्मप्रवंचना का सामूहिक प्रयत्न है।



एंगेल्स ने 'एंटी-डुहरिंग' में कहा है वैसे यह सब 'विराट् सूर्वता' है; क्योंकि जो भौतिकवादी है, वे मूलतः यही स्वीकार नहीं करते कि शरीर क पहले आत्मा थी; या शरीर पिंजड़ा है और आत्मा पक्षी । 'एंटी-डुहरिंग' में एंगेल्स ने स्पष्ट लिखा है—  
 “The unity of the universe dose not consist in its existence...since it must first exist before it can be a unit.”  
 आधुनिक सांख्यवादी कवि डब्ल्यू. एन्-आडेन ने इन 'शाश्वती समा' वादियों का सुन्दर मजाक उड़ाते हुए कहा है—

“When through exhausting hours  
 they'd flown  
 From the alone to the Alone  
 Nothing remained but the  
 dry-as-bone  
 Night of the Soul!”

ऐसे भ्रामक और भ्रांतिपूर्ण स्वर्ण-परिपूर्तिवाले रहस्यवाद की अपेक्षा सीधा प्रवृत्तिवाद या यथार्थवाद क्या बुरा है ? बोल्तेयर की सागिन भाषा में कहने का मन होता है—“मेरे धर्म के मुखियों ने ठहराया है कि कोई धर्म नहीं है। ऐसे गलतियों के गले पड़ने की अपेक्षा प्रकृति के गले पड़ना बेहतर है !”

पहले रहस्यवाद की चर्चा में काम का वर्णन कर आये हैं। उसी में से आगे अश्लीलता का प्रश्न भी उद्भूत होता है। फ्रायड ने धर्म और कला दोनों को यौन-प्रवृत्ति के स्थानान्तरीकरण का एकस्वरूप माना है। डा० ई० फ्रेड्जमेर अपनी 'शरीर और चरित्र' नामक मनोवैज्ञानिक सीमांसा में पृष्ठ ३८४ पर कहते हैं कि 'श्रिजोफ्रेनिया और डेमेन्शिया प्रीकाइस (मानसिक विकृतियों) के शरीर को यदि फिर औसत आदमी की हालत में सुधारकर लाना हो तो संभली अवस्था में वह एक अभिनेता या गायक होगा—आत्म-प्रदर्शन की लालसा अभी इस अवस्था में भी उसे बहुत प्रोत्साहित करती है। वह एक भविष्यवादी चित्रकार, एक अभिव्यंजनावादी कवि, अथवा एक अध्यात्म-चिन्ता करने वाला रहस्यवादी भी बन सकता है।' मेरे कथन का यह अर्थ कदापि नहीं कि मैंने जो मर्मी या संत कवि ऊपर उद्धृत किये, वे सबके सब मानसिक रूग्णता से पीड़ित थे; परन्तु इतना अवश्य है कि फ्रायड की कलाकृति के निर्माण के पहले की मानसिक अवस्था का विश्लेषण यदि मान्य किया जाय तो उन-उन सन्तों अथवा श्रुतों की उच्छक्रोष्टि की कलाकृतियों में—विशेषतः विप्रलम्भ शृंगार की व्यंजनाओं में—वर्जनाओं का, मानसिक संघर्षों का, अंतर्द्वन्द्वों का अवश्य गहरा हाथ रहा होगा। 'चल चकई वा देश को जहाँ रैन कदी नहीं होय'

कहने वाला कबीर या 'साधव अंतरी-नारी, अंगना अंतरी हरी', कहकर रासक्रीड़ा वर्णन करने वाला गुजराती संतकवि भीम या मराठी हरिजन चोखोबाराय एक स्थान पर कहते हैं कि आँखों का सुन्दर जिस दृष्टि से देखने गया तो आँख ही उस सुन्दर के भीतर निकली। आँखों का सुन्दर आँखों में देखा, तो वहाँ आप-से-आप ही आँख भिन्न गयी। (चोखा कहता है कि बड़ा आश्चर्य हुआ कि सुन्दर जो देखने गया तो आँख ही विलस गई।) इन उक्तियों के पीछे किसी भी प्रकार की 'कशिश' वासना और प्रेम की रस्ताकशी उपस्थित नहीं थी, यह कहना जान-बूझकर सत्य को ढाँकने का यत्न करने के समान है।

'कवि तथा दिवास्वप्न' की चर्चा में फ्रायड कवि की बच्चे के साथ तुलना करता है। दोनों एक प्रकार के घरौंदे की दुनिया में विश्वास करते हैं। कवि एक अवास्तविक जगत् की शरण लेता है जो कि शिशु-क्रीड़ा का ही एक परिवर्द्धित रूपमात्र है। कवि और बच्चे, दोनों अपने-अपने अवचेतन मन में गहरा रस लेते रहते हैं। आगे चलकर फ्रायड कलाकार, मानसिक रोगी तथा आदिम असभ्य मानवों की तुलना करके कहते हैं—'हमारी सभ्यता में अब केवल कला के क्षेत्र में, भावों का सार्व-देशीय आधिपत्य प्रस्तुत है। कला में ही एक व्यक्ति अपनी काल्पनिक इच्छाओं से उत्प्रेरित होकर, उसी में तप-गल-कर, कुछ ऐसी बात, निमित्त करता है जिससे उसकी इच्छाएँ पन्तिपूत होती हैं; और उसी कलात्मक आभास का परिणाम कुछ ऐसा होता है कि मानो वास्तविकता से कल्पना में से दथार्थ जगता है। यह कला का जादू है। वह 'अभाव' में से 'सत्' जन्मित कर देता है। इस प्रकार हिस्टोरिया कला-सृष्टि का व्यंग-चित्र है तो 'Compulsion neurosis' धर्म का, तथा 'Paranoiac delusion' दार्शनिक चिन्ता का। यह सब मानसिक रुग्णताएँ इस अर्थ में असामाजिक होती हैं कि वे समाज में सामूहिक परिश्रम द्वारा जो बातें साध्य होती हैं, उन्हें वैयक्तिक साधनों से प्राप्त करना चाहती हैं।'

फ्रायड जिसे यौन-वृत्ति का आत्यन्तिक निरोध तथा मार्गान्तरीकरण कहता है; उसी को युँग ने कहा है; परिणामों का एक साथ विस्फोट, जो कि कलाकारों में कलात्मक अभिव्यजना का स्रोत होता है।

फ्रायड के अनुसार धर्म का मूल असहिष्णुता है। ईसाई मत प्रेम का प्रचार करता है; परन्तु वह प्रेम एक प्रकार की नकारात्मक घृणा ही है। आज यदि यह असहिष्णुता धर्मयुद्धों के जनानों से कम दिखाई देती है तो वह इसलिए नहीं कि मनुष्य-स्वभाव बदलकर कोसलतर हो गया है; परन्तु इसलिए कि धर्म के मूल में जो जीवनीत्पलव-विषयक बंधन थे वे शिथिल हो गये हैं। कल यदि धार्मिक 'लिविडो' का स्थान समाजवादी 'लिविडो' ने लिया, तो समाजवाद-विरोधियों के साथ वही बर्बर

असहिष्णुता दिखाई जायगी। फ्रायड ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि प्रेम-भावना का जड़ोत्पत्ति यौन-प्रवृत्ति की वर्जना से उत्पन्न होता है। यही जब सामूहिक रूप ग्रहण करत है तो, आदिम-मानव का 'टोटेमिज्म' (धार्मिक रूप से भाड़-फूँककर रोग से मुक्त करना आदि) कहा जा सकता है। अविकसित और अपरिपक्व प्रसुप्त इच्छाएँ एक और और दूसरी और अहम् में सम्मिलित प्रवृत्तियों के बीच जो संघर्ष उत्पन्न होता है, उसी 'यूरोसिस', (मानसिक विजड़ोत्पत्ति) में से सैकड़ों आत्म-अनात्म-सम्बन्ध उत्पन्न होते हैं-। धर्म भी उन्हीं में से एक है। एक स्थान पर फ्रायड ने स्पष्ट कहा है—

धर्म के मूल में एक प्रकार की मातृ-पितृ-मूलक प्रेम की शिशु वृत्ति है। फ्रायड इस प्रेम को भी 'काम' के अंतर्गत मानता है। आत्मा स्वयं के सम्बन्ध में जो सोचती है और अपना आदर्श जो उसने क्रायम कर लिया है, उस उपरि-अहम् के और मौलिक अहम् के बीच संघर्ष होकर अपने आपको पराजित मानकर, अपनी व्यर्थता मानने लगती है। इसी भावना में धर्म का बीज निहित है। धर्म-नतिकता और सामाजिक भावना आरम्भ में एक ही है। एच० जी० वेल्स ने अपने विश्व-इतिहास में लिखा है कि पाषाण-युग के मनुष्यों की कृतियों में धार्मिक या रहस्यवादी प्रतीक नहीं पाये जाते।

मनुष्य के भारी जीवन में स्वर्ग के उपहार की कामना एक प्रकार के स्वेच्छा से या बलात् सांसारिक सुखों के त्याग, वासना के निरोध के काल्पनिक, मानसिक प्रक्षेपणमात्र है। धर्मों ने वासनाओं का, सांसारिक तृष्णाओं का संपूर्ण त्याग कभी नहीं किया—उलटे उन्हें आगामी जीवन के लिए सुरक्षित रखा—बीमे के विज्ञापनों की तरह (हत्वा वा प्राप्य से स्वर्ग) हम सन्त कवियों की कला-कृतियों को भी इसी श्रेणी में ला सकते हैं। मित्रा ने अपने 'प्रीहिस्टॉरिक इण्डिया' में एक जगह कहा है कि 'कला सभ्यता से पूर्व की वृत्ति है। वह अनुकृति नहीं; न वह सीखा हुआ कौशल है। वह तो धर्म के समान ही प्राथमिक वृत्ति है। कदाचित् भाषा के समान। कला मानव-जीवन के अस्तित्व के आरम्भ के साथ ही उपस्थित है। अब उस निरुद्ध काम को आप मार्गान्तरीकृत मानते हैं परिशोधित—सन्तों के उदाहरण यह सिर्फ शब्दों का हेर-फेर है। जेम्स-बर्ग ने अपने 'समाज-शास्त्र' में कहा है—मूल प्रवृत्तियाँ निरुद्ध होती हैं, या उत्तोलित (सब्लिमेटेड) या उन्हें खुलकर खेलने का मौका दिया जात है, यह बहुत कुछ उस व्यक्ति के कुटुम्ब-जीवन, पारिवारिक परिस्थितियों और जिस काल में वह हुआ है उसके सामाजिक संगठन पर निर्भर है।'।

इस कारण हम समाज-शास्त्रियों द्वारा दिये गये अवलीलता के इतिहास पर एक दृष्टिपात करें।

६

कुछ लोगों को सर्वत्र अश्लीलता ही अश्लीलता नजर आती है । स्पष्ट है कि उनके मन ही विकृत है अथवा दुर्बल ! डाक्टर ब्लाक अपने 'हेक्सुक्ल लाइफ़ इन माडर्न टाइम्स' में कहता है कि "कई लोगों के मन ही इतने पापी और विकृत हो जाते हैं कि जरा-जरा-सी बातों से उनकी गर्दन नीची हो जाती है और वे 'शांत पापम्' कहकर चिल्लाने लगते हैं ।" पारिजात-संपादक ने सन्तों के पद और आजकल के सिनेमा के गीतों की जो तुलना की है उनके मूल में एक भ्रांति है—आज की समाज-रचना मध्ययुगीन समाज-रचना से भिन्न है (यद्यपि क्षुधा, काम आदि मानवी प्रवृत्तियाँ कम-ओ-बेसी उसी रूप में विद्यमान हैं,) आज सस्ते अखबार, सस्ते चित्रपट, उपन्यास और ऐसे ही साधनों से अश्लीलता बहुजनसमाज तक पहुँच गई है । पहले वह सामन्तों की राजाश्रिता 'पतुरिया' थी—यानी केवल उच्चवर्ग के विलास के लिए सुरक्षिता । शराब, वेश्या और अश्लीलता की जो माँग बढ़ती जा रही है, उसके मूल में आज की समाज-रचना है । यह यहाँ लिखने की आवश्यकता नहीं ।

अश्लीलता यह रोग है, यह मानना एक ढोंग है । वह केवल एक रोग का लक्षण है । मनुष्य को सत्यशून्य कर डालने वाली यांत्रिक संस्कृति और पवित्रता की गम्भीर और मूर्खतापूर्ण कल्पनाओं का सयुक्त फल है—अश्लीलता । डॉ० एच० लॉरेन्स के उद्गार यथार्थ थे—'हमसे की संवेदन-क्षमता मर चुकी है; सृजन-शक्ति पूर्ण नष्ट हो गई है । हम केवल भूसे के समान बचे हैं ।

पूर्वकालीन अश्लीलता कुछ ढँकी हुई थी । आज वह बहुजनज्ञाता हो गई है । अश्लीलता का मूल हेतु है कामोद्दीपन तथा प्रत्यक्ष संभोग के अभाव की पूर्ति । शिव-पार्वती, मदन-रति, राधा-कृष्ण की केलि-क्रीड़ा-वर्णनों में कल्पना का सहारा अधिक लिया जाता था । आज वह आसमान से जमीन पर उतर आई है—आज के प्रगतिशील साहित्य में अधिक प्रामाणिकता से और यथार्थता से यौन-जीवन चित्रित है । उसमें अश्लीलता ने हाड़-मांस ग्रहण कर लिया है । परन्तु श्रेष्ठ कलाकृतियों में व्यक्त होने वाला यौनाकर्षण और अश्लीलता में बहुत अन्तर है । अजन्ता की गुफाओं में गौतम बुद्ध की प्रतिमा की अपेक्षा उसकी उपासना करने वाली ललनाओं की सुडौल आकृतियाँ अंकित करने में कलाकारों ने अपनी प्रतिभा खर्च की है । इस कारण वे अश्लील नहीं हो जाते । प्राचीन काल के जो काम-शास्त्र पर ग्रन्थ हैं वे अत्रैज्ञानिक हो सकते हैं; परन्तु अश्लील नहीं हैं । शैव और यूनानी शिल्पकला के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है । कला और नीति के गांधीवादी प्रहरी कैलाश कालेलकर ने नग्नता के सम्बन्ध में अपनी पुस्तक 'कला—एक जीवनी-दर्शन, (पृष्ठ २६)—' में कहा है 'पुराने ज़माने में हमारे तांत्रिकों ने नग्नता की उपासना कुछ कम नहीं की और हमने उनके परिणाम भी देखे; लेकिन

नग्नता से भी पूर्ण पवित्रता का दर्शन कराया जा सकता है। दक्षिण भारत में भद्रबाहु, बाहुबली, गोमतेदवर की नंगी मूर्तियाँ हैं। ये इतनी बड़ी और विशाल हैं कि कई मील की दूरी से लोग इन्हें देख सकते हैं। पर इन मूर्तियों के चेहरों पर मूर्तिकारों ने ऐसा अद्भुत शक्ति-भाव बरसाया है कि यह पवित्र नग्नता दर्शक को पवित्रता की ही दीक्षा देती है। पुरुष का शरीर हो या स्त्री का, पशु का हो या पक्षी का, इसमें वीभत्सता है ही नहीं। अश्लीलता शरीर के ऊपर नहीं, वह तो मन के भाव में है। दिगम्बर चित्र दो अश्लील या गन्दा बनाना या कला-पवित्र बनाना चित्रकार के हाथ में—मूर्तिकार के हाथ में है। संस्कृत कामशास्त्र आदि में प्रणयानुराधन की कलामात्र है। जिस काल में ये रचनाएँ हुई, सामाजिक बन्धन कम थे और व्यक्तिस्वातन्त्र्य अधिक था। अतः अश्लीलता का प्रश्न ही नहीं उठता था।

यूनानी कला के यौवनकाल में जो व्यक्तिस्वातन्त्र्य था, वह रोमनकाल में कम होता गया। बन्धन बढ़े, उतना ही भोग-विलास भी बढ़ा, बहिर्मुखता बढ़ी। अश्लील पुस्तकों की पौध भी बढ़ी—ओविड, प्लिनी आदि के ग्रन्थों में अश्लीलता बहने लगी। उनके बहुत-से ग्रन्थ आज नहीं मिलते, क्योंकि उस समय पुस्तकों की नकल करने का काम पादरियों का था और किसी की भी हिम्मत यह करने की न हुई होगी। यूरोप में मध्ययुग में अश्लीलता अवच्छिन्न हुई थी; प्रणय-जीवन सुलभ न था और धर्मपीठों का शासन भी अत्यन्त कठोर था। तब अश्लीलता ने मंच का और हास्य का मार्ग पकड़ा। रेम्ब्रान्ट, रूबेन्स आदि ने विकार और वासनाओं के चित्र खुले-आम रंगे हैं—रेम्ब्रान्ट ने दूर्दालिगन का एक चित्र कोई भी छिपाव-दुराव न रखते हुए खींचा है। इन चित्रों में उत्कट वासना है, सौन्दर्य है—परन्तु उसमें गन्दा कुछ भी नहीं है। पन्द्रहवें लुई के शासनकाल में फ्रांस में कला-साहित्य में शृंगार की जैसे बाढ़ आ गई। तत्पूर्व पवित्रता के निरोध की मानो यह प्रतिक्रिया थी : अश्लीलता उस समय अपना नग्न, नृत्य दिखाने लगी। जो लेखक या कलाकार उसको नहीं मानते थे, भूखों मरे। विख्यात चित्रकार बूशर ने लुई की रखेली मादाम ला पाँपादूर के निद्रालय में इतने अश्लील भित्तिचित्र बनाये थे कि उसकी अगली पीढ़ी ने उसका नाश किया। भद्रजन, विशेषतः सामंत-कालीन सरदार आदि शिष्टजनों की नित्योपयोगी व्यवहार की वस्तुओं पर भी अश्लीलता की मुहर जम गई। नृत्य की डिब्बी पर 'समर-प्रसंग' के चित्र बड़े मनोयोगपूर्वक चित्रित रहते; बगियनों के दृग्वाजों के अन्दरूनी हिस्सों पर भी ऐसे ही प्रणयचित्र अंकित रहते। मद्रास के देवालयों में विकृत मनोवृत्ति-दर्शक कई आकृतियाँ हैं। सम्भव है कि विजयनगर साम्राज्य के उत्थानकाल में किसी धिलासी राजा के आदेश से यह कार्य हुआ हो।

तत्पश्चात् उन्नीसवीं सदी में जो अतिरंजित अश्लीलता थी वह और लुई के

समय की अश्लीलता तथा आज की खुली अश्लीलता में मौलिक अन्तर है। प्रेम की भावना की अपेक्षा केवल रति-मुख की उत्कट लालसा, शारीरिक सुखोपभोग का आकर्षण अश्लीलता की नींव है। फ्रेच राज्यक्रांति के बाद अमीर-उमरावों के विलासी जीवन का उपहास करने के लिए अश्लीलता का उपयोग किया गया। ज्यों-ज्यों वर्ग-विग्रह की तीव्रता कम होती गई, अश्लीलता भी कुछ फीकी पड़ती गई। इंग्लैंड में विक्टोरिया शान्ति के राज्य-काल में अश्लीलता मध्यमवर्गीय बन गई। कलात्मकता और चतुरता का लोप होकर उसका स्थान अस्म-मनोर और गन्दगी ने ले लिया, व्यावसायिक मनोवृत्ति बढ़ी। सूत्रक चित्र सामान्यजनों के लिए, अत्यन्त उत्तम चित्र अमीरों के लिए, ऐसा विभाजन हो गया। ऊपर से सभ्य, परन्तु दीपक के पास रखने से अत्यन्त अश्लील नज़र आने वाले चित्रों की इस काल में बिक्री बढ़ी। भीरुता, अतिभावुकता, दिखावटी सभ्यता, अन्दर से लपटता का वह काल था। जेम्स जिपरे (१७५७-१८१५) ने अपने राजनैतिक व्यंगचित्रों में अश्लीलता का आश्रय लिया था, परन्तु उसमें कुछ बुद्धि की चमक भी थी—मगर टामस रोलंडसन् (१७५६-१८२७) कुछ-न-कुछ विषय खोजकर पुष्ट उरोजों की स्त्रियों का चित्रण अपने व्यंगचित्रों में करता; आँब्रे वेड्सबी (१८१२-१८६५) ने तो हृद ही कर दी। उस समय कामेच्छा का वर्णन पाशवी और विनाशक शक्ति के रूप में किया जाता था। वेड्सबी ने सब बन्धनों को तोड़-ताड़कर स्वच्छन्द-चित्रण शुरू किया। वाग्नेर के 'ट्रिस्टैन' (काव्य-संगीत) में और शार्लट ब्रांटे के 'जेन आयर' (उपन्यास) में अश्लीलता गृहस्थित का पहिनावा पहिने आई; परन्तु उससे क्या होता है? नास्ती जननी में 'सन्तान-कामाय तथेति कामम्' का प्रथावत् परिपालन शुरू किया। स्त्रियों पर इस प्रकार का अत्याचार असहनीय जान पड़ता है, परन्तु फ्रांस और अमेरिका के छिपे वेश्यालयों से यह खुला अनिर्बन्ध काम समाज-स्वास्थ्य की दृष्टि से क्या बुरा था?

जेम्स ईस्टवुड के 'पोर्नोग्राफी टुडे' (आज की अश्लीलता) नामक लेख से मैंने ऊपर बहुत-कुछ सहारा लिया है। भारत पर यह इतिहास ज्यों-का-त्यों लागू नहीं होता। परन्तु मध्ययुगीन निर्गुण सन्तों का आविर्भाव-काल तथा ईरान में सूफियों का निर्माण-काल निश्चित कबीले वाली स्थिति से सामन्ती स्थिति में परिवर्तन का काल था। कवियों के और सामान्य जनो के जीवन भी पराक्रम के अभाव में भूखे थे; गत्यवरोध था—कि इस प्रकार के यौन-संकेतों के आधिक्य को व्यक्त करती है। तत्पूर्व जो वेदान्त या सूखा दर्शन धर्म का गला घोंट रहा था, उसकी प्रतिक्रिया भी अवश्यम्भावी थी। सन्तों के या समियों के व्यक्तिगत यौन-जीवन भी निवृत्ति पर अत्यधिक आग्रह रखने के कारण अतृप्त, अपरिपूर्ण थे। उन सबका प्रतिबिम्ब उनकी रचनाओं में हुआ है। उनसे काम से भागने का जितना ही यत्न है;

उत्पत्ति ही उसमें इन्द्रियानुभूति की अज्ञात, अव्यक्त जकड़न या पीछे-खींचने वाली प्रवृत्ति है।

१०

अन्त में, मैं अपने निष्कर्ष को प्रस्तुत करना चाहता हूँ। मैंने 'मर्मी कवियों की विरह-व्यंजना' के प्रसंग में रहस्यवाद, कला तथा धर्म-सम्बन्धी फ्रायड के मत तथा अश्लीलता के इतिहास की चर्चा की। कुछ आक्षेपकों के त्राक्षेय भी रखे, जो मेरी निम्न युक्तियों से स्वयं खण्डित हो जायेंगे—

(१) मैं मर्मी कवियों की साधारण मानव मानता हूँ। हमारे आपके समान ही वे हाड़-मांस के जीव हैं। उनमें भी काम-वासनाएँ रही होंगी।

(२) 'रहस्यवाद' यह एक मृग-मरीचिका की भाँति शब्द होने से उन्हें रहस्यवादी धार्मिक सन्त कहलाने वालों को भी कलाकारों के समकक्ष रखता हूँ। जो अपने काल्पनिक जगत् से स्वप्न-परिपूर्ति किया करते हैं।

(३) मेरा यह विद्वान्ता है कि उच्च कला उच्च वासना के बिना, उत्कट अनुभूति के बिना निर्मित नहीं होती। वह उत्कट अनुभूति कभी भी निरी मानसिक नहीं होती; उसमें मन-शरीर समूचे प्राण और व्यक्तित्व का योग होता है। सिनेमा के गीतों के पीछे टकों की प्रेरणा होती है—वह अभिव्यक्ति की पीड़ा नहीं!

(४) चूँकि मर्मी कवि ऊँचे कलाकार भी हैं उनकी रचनाओं के पीछे भी वही उत्कट अभिव्यक्ति की पीड़ा रही है; इसी से उनकी रचनाएँ जनप्रिय हुई।

(५) यह पीड़ा जैसे कुछ लोग मानते हैं, केवल 'प्रज्ञा' या इन्टियूशन से नहीं पैदा होती। उसके पीछे अन्तर्संघर्ष आवश्यक है। प्रबल सामाजिक (या उसी के कारण वैयक्तिक) असन्तोष तथा उसमें से समाज को बदल डालने की भावना कला-सृजन के मूल में काम करती है।

(६) सन्तों के दर्शन में समस्त कर्प ईश्वर-प्रेरित या नियति-प्राश्रित (डिटरमिनिस्टिक) है; सो यह पीड़ा एक व्यक्ति-मंथन का रूप लेती है। जैसे पानी चारों ओर से टकराकर एक भँवर में पड़ जाय 'मेरा ही कुछ दोष रहा होगा'—'हैं पतितन को नायक'; 'मो सम कौन कुटिल खज कायी?'

(७) इस प्रकार के आत्म-दोष-दर्शन या स्वीकृति ने भी उच्चकोटि का साहित्य विश्व को दिया है (रूसो, वाइल्ड, टालस्टाय, गांधी)। सन्तों में भी वही आत्म-निपीड़क वृत्ति काम करती है।

(८) ये सब वृत्तियाँ यौन-वर्जनाओं; यौन-जीवन के असन्तुलन; अपरिपूर्ण काम से उत्पन्न होती हैं। फ्रायड ने और धर्म और कला का मूल भी उसी प्रवृत्ति-निरोध को मज्जा है। उस निरोध से मार्गान्तरीकरण होता है या उसका उतोलन

यह प्रश्न यहाँ विचारणीय नहीं; क्योंकि यह परिणाम से जाँचा जायगा। वही कसौटी वस्तुनिष्ठ है।

(६) अतः सर्मी कवियों में एक विलक्षण आत्म-रति और तज्जन्य स्वयं से भागने की वृत्ति दिखाई देती है। उनका विरह भी उसी आत्म-पूर्ति का एक विराट् प्रयत्न मात्र है। तब की जनता भी ऐसे विराट् समाधान की खोज में थी; अतः वे कवि और उनकी उक्तियाँ जनप्रिय रहीं।

(१०) इस मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से न सर्मियों पर कोई आरोप है, न कोई निरा चमत्कारवाद। मेरा विश्वास है कि कला-कृति की वृत्ति की परख करते समय कलाकार का हम उतना ही निर्देश करें जितना आवश्यक है। संदर्भ से अधिक लक्ष्मण का ध्यान हमें पूर्व ग्रहणित कर देना है।



## कविता और रहस्यवाद

कविता स्वयं मानव-जीवन की व्याख्या है, अतएव उसकी परिभाषा नहीं हो सकती। कविता जैसी व्यापक रस-प्रक्रिया को एक विशेष परिभाषा में बाँधना महासागर के जीवन को अपने घट में भर लेने के प्रयत्न से कम असाध्य नहीं। इस कारण कविता का अभिप्राय समझने के लिए पहले तो विभिन्न ब्रिंत्तकों तथा कलाकारों के विविध मतों को देखना होगा और फिर उस विविधता के भीतर रमी हुई एक ही आत्मा, एक ही लय और एक ही भंकार को पहचानना होगा। दर्शन के क्षेत्र में, अनैक्यता में 'व्य अथवा 'व्यक्तित्व' शब्द से जो बोध होता है, वही कविता के लिए भी चीन्हना आवश्यक है।

कीट्स कविता को 'आलोक की एक स्वप्न-हीन वर्षा' (A dreamless shower of light) कहकर पुकारता है तो शैली कवि को चण्डोल (skylark) मानकर कविता को कल्पना की अधिष्ठात्री मान बैठा है। कार्लाइल उसे संगतीमय विचार कहता है, तो रस्किन 'तथ्य की आत्मा का बन्धन-रहित होना' (Disentanglement of the soul of fact) मानकर चला है। हेनरिक इब्सन ने तो कविता को 'कयामत के दिन तक का लिखा हुआ आत्मा का लेखा-जोखा' (Dooms day records of the soul) कहा है। हमारे यहाँ काव्य को 'रसात्मक वाक्य' कहा गया है। बा० जयशंकर प्रसाद 'काव्य और कला' नामक निबन्ध में कविता को संकल्पात्मक अःभूति कहते हैं, तो सुमित्रानन्दन पन्त मनुष्य के परिपूर्ण क्षणों की वाणी को ही कविता कहकर चले हैं। महादेवी के लिए तो मनुष्य स्वयं ही एक सजीव कविता है। पं० रामचन्द्र शर्मा की सुप्रसिद्ध परिभाषा सृष्टि से मानव-हृदय का रागात्मक सम्बन्ध जोड़कर ही चुप बैठी है। मैथ्यू आर्नल्ड ने कविता को जीवन-समीक्षा माना है।

कविता को यदि व्यक्ति के हृदय के साथ बाहर की समस्त चराचर सृष्टि का तारतम्य बँटाने वाली प्रक्रिया मानें तो ऐसी परिभाषा में अतिव्याप्तिदोष स्पष्टतया लक्षित होगा। व्यक्ति का 'अहम्' (ईगो) तथा 'अहम्' से परे का 'पर' (नान-ईगो) — इनके एकीकरण के सम्बन्ध में दर्शन के क्षेत्र में उपनिषद्-काल से जर्मन दार्शनिक हेगेल और फिश्टे तक बड़ी-बड़ी बातें, बड़े-बड़े प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं। क्या कविता इस एकाकारिता, इस कण-कण में परिव्याप्त सामंजस्य और लय

से जिसे कि. गाल्सवर्दी अपने 'कला' पर कुछ बिल्वरे विचार' (Inn of Tranquility के Letters. खण्ड) में पूर्णता के तीन मुख्याङ्ग-लय छन्दस् और साम्य (Harmony, Rhythm and Proportion) के नाम से पुकारता है, वंचित रह जायगी ? उल्टे वह तो उस सामंजस्य के साम्राज्य की एकछत्र सम्राज्ञी है। विक्टर ह्यूगो का एक छोटा-सा वाक्य है—'कला देश-काल को अतिक्रान्त करके चलती है' (Art transcends the domain of space & time)। इस वाक्य में कविता के अन्तर्गत आने वाली व्यापक सहानुभूति के स्पष्ट दर्शन हो जाते हैं। मैथ्यू अर्नाल्ड के 'समीक्षा' शब्द के प्रयोग को इसी दृष्टि से समझना होगा।

जो केवल कलावादी हैं, वे इस पर एकदम कोलाहल कर उठेंगे। क्या कविता का भी कोई हेतु है ? क्या वह भी हेतुबालंबिनी है ? हेतुमय और हेतु-प्राण है ? इन लोगों की दृष्टि में मानव, जीवन और संसार सभी अनन्त, गत्यात्मक और लक्ष्यहीन हैं। परन्तु वैसे अन्तिम सत्य की दृष्टि से देखें तो प्रभु का प्रत्येक रज-करण सहेतुक है। अतएव कविता हेतु-प्राण न होकर हेतु-प्रधान है। यह मान लेने पर, वह हेतु क्या है, यह जानना आवश्यक है।

मनुष्य चिर-अतृप्त है, चिर-असमाधानी। उसके प्रभु होते हैं, उसकी आकांक्षाएँ होती हैं, और वह निरन्तर उनके समाधान के प्रयत्न में सलग्न रहा करता है। वह सच्ची बात जानना चाहता है। वह चाहता है कि एक ऐसे स्थल पर पहुँच जाय कि निराशा, असमाधान, मूषा और सत्य-शून्य कुछ न रहे। यही सत्य की पिपासा मानवमात्र की अन्तरात्मा में रमी हुई है। इसी अन्तिम हेतु का, साध्य का, समाधान दुर्बल मनुष्य के वृत्तिगत साधनों से करना पड़ता है। मनुष्य के वृत्तिगत साधनों में सर्व-प्रधान है उसकी सौन्दर्य-बोध की वृत्ति (इंस्टिक्ट)। उसका समाधान वह एक स्थिर आधार खोजकर कर लेना चाहता है। जहाँ सुन्दर-सत्यान्वेषण या सत्य-सौन्दर्यान्वेषण है वहीं कविता का उद्गम, अस्त, अभीष्ट, ईप्सित सब कुछ विद्यमान है। और यहीं मंगलमयता का, कल्याण का, 'शिवम्' का प्रश्न सम्मुख आता है। कबीन्द्र रवीन्द्रनाथ ने अपने 'साहित्य में सौन्दर्य-बोध' नामक निबन्ध में स्पष्टतया यह प्रमाणित किया है कि जिस प्रकार सत्य-सुन्दर से स्वतन्त्र अपना अस्तित्व नहीं रख सकता, वैसे ही मंगल (शिव) भी सत्य के ही अन्तर्गत आता है। मंगल और सत्य अविच्छिन्न हैं। और यही 'आनन्दमरूपममृतम्' का भेद जहाँ कवि जानने-पहचानने लगता है, वहीं वह केवल कलाविद् न रहकर मर्मी चिन्तक बन जाता है। कविता को केवल कला नहीं मानी जा सकता। 'कला' से अधिक वह आत्माभिव्यक्ति है; वह व्यक्ति का वशहीन आत्मप्रकटीकरण है।

‘रहस्यवाद’ शब्द का अभिप्राय भी समझना होगा। ‘रहस्य’, जो गोपन, अज्ञात रहे, ‘वाद’ से आबद्ध कर सदियों ने इस शब्द पर अपना अर्थ गढ़ लिया है। अब उसका अर्थ रहस्योन्मुख, रहस्य-प्रधान तथा रहस्यमयी साहित्य-रचनाओं में ही सीमित रह गया है। प्राचीन काल में परमात्मा के साक्षात्कार आदि में विश्वास करने वाले ही नहीं, वरन् बेसी दिव्य अनुभूति में ‘स्व’ को तन्मय कर देने वाले कवि अथवा अकवि सभी रहस्यवादी (मिस्टिक्स) कहलाते थे। डार्विन, मार्क्स और फ्रायड की बीसवीं सदी में उस प्रकार का व्यक्तिनिष्ठ और असली रहस्यवाद तो कहाँ रहा ? वह आज साहित्य की भाषा के काले अक्षरों में ही बँधा-सा रह गया है।

इस प्रकार दार्शनिकों का जिस प्रकार शुद्ध रहस्यवाद है, वहाँ धर्म से अनुरंजित सेंट अगस्तीन, एक्हार्ट, चैतन्य और मीरा का भी अपना रहस्यवाद है। आजकल मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से रहस्यवाद और दिव्य अनुभूति के क्षणों को विकृत मन का भास-स्वप्न भी माना जाता है। परन्तु उस दार्शनिक, धार्मिक या वैज्ञानिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण उसका साहित्यिक मूल्य होगा। रवीन्द्रनाथ ने रहस्यवादी कविता को एक ओर तो सत्य के स्वरूप के लिए मानव स्वभाव की मानसिक प्रक्रिया माना है, तो दूसरी ओर उसे वे एक भविष्यवाणी भी मानकर चलते हैं। (The poetry of mysticism may be defined on the one hand as a temperamental reaction to the nature of truth, on the other hand it is a kind of prophecy.—‘Poet’s Religion.’)

प्रो० रामकृष्ण वर्मा ने एवलिन ग्रंडरहिल की परिभाषा कुछ परिवर्तित करके अपने ‘कबीर का रहस्यवाद’ के प्रारम्भ में जोड़ दी है, जिसमें जीवात्मा की सृष्टि और प्रकृति के भीतर रहे हुए अलौकिक स्वरूप, अज्ञात शक्ति-तत्त्व के साथ निश्चल और एकान्त सम्बन्ध स्थापन करने की प्यास और उसकी उत्कटता के साथ में एकाकारिता की प्रत्यक्ष अनुभूति की ओर इंगित है।

रहस्यवाद की उत्पत्ति मनोवैज्ञानिकों के मतानुसार तीन मूल वृत्तियों पर आधारित है—मनुष्य की समाधान पाने की चिरन्तर प्यास, मनुष्य का अज्ञात के प्रति स्वाभाविक कौतूहल-आकर्षण, मनुष्य के भीतर सदा जागरित रहने वाला भय। समस्त धर्म-भावना की उत्पत्ति भी इसी भय की वृत्ति में कुछ विद्वान् मानते हैं। परन्तु रहस्यवाद का वास्तविक प्रारम्भ तो प्रकृतिगत विराट् तत्त्वों को देखकर कुतूहल से आविष्ट हो जाने वाले आदिम सामगायक आर्यों में ही मिल जाता है। ‘रसो वै सः’ का अर्थ और क्या है ? रस जितना है वह ‘वही’ है, कविता जितनी है वह सब सत्यान्वेषी, रहस्यवादी वृत्ति की ही लेकर चलती है। वहाँ ग्रंडरहिल ने अपने ‘मिस्टिसिज्म’ नामक ग्रंथ में रहस्यवाद और जादू और रहस्यवाद और भास-स्वप्नों का जो नाता जोड़ा है

उस साक्षात्कार के प्रश्न को कैसे छोड़ दिया जा सकता है ? 'हृद बेहृद दोनों गया' तक तो कवि ठीक है, पर 'कबिरा देखा नूर' की प्रत्यक्षानुभूति के विषय में विवाद खड़ा होता है। कुछ लोगों ने ऐसे सिद्धों को वाणी के लोक से परे, कविता और शब्द-सृष्टि से परे माना है। यहीं कवि बनना मर्मा बनने की एक सीढ़ी, एक श्रेणीमात्र मानी जाती है। रहस्यवादियों में पंथोपपंथ इसी सत्य के ग्रहण (रियलाइजेशन) में मंजिल-दर-मंजिल बढ़ने के विश्वास से उत्पन्न हुए।

तो अंतिम अवस्था साहचर्य की, अनंत शक्ति से जीवात्मा के एकाकार सम्बन्ध प्रस्थापन की, तो है ही। वहाँ कवि शुद्ध 'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या' को चरितार्थ करता हुआ वाणी के लोक से परे, 'सर्गुण-निर्गुण ते परे रहा हमारा ग्यान' की प्रेरणा-चेतना प्राप्त करता है। ऐसे कवि अध्यात्मवादी होते हैं। वे कवि से अधिक दार्शनिक-विचारक हैं। दूसरे वे हैं जो कल्पना-निमित्त आश्रय या आधार में अपनी संपूर्ण निष्ठा और श्रद्धा आरोपित कर, 'मैं तो साँवरे के रंग राती' की अनुभूति में लीन हो जाते हैं। गौरांग महप्रभु चैतन्य आकाश की श्यामलिमा देखकर 'यह तो मेरे प्यारे का रूप है' कह कर मूर्छित हो जाया करते थे। वे इसी कोटि में हैं। परन्तु साहचर्य की भावना में भक्ति के भीतर की श्रद्धा का स्थान जहाँ प्रेम ने ले लिया वहाँ मनुष्य के कायिक, वासनात्मक अस्तित्व ने भी अपना अस्तर रहस्यवाद पर डाले बिना न छोड़ा। सत्कीरो-पासना का जो पतित स्वरूप नायिका-भेद के ग्रंथों में मिलता है, उसका बीज इसी वृत्ति में है। मूलतः यह प्रवृत्ति बहुत शुद्ध और अतिरेकमय तन्मयता लेकर चली थी। इसका जन्म फारस के सफ़ेद ऊन पहनने वालों में हुआ। अत्तार, रूमी, जामी, मन्सूर, हाफ़िज़ उमरख़य्याम—सब इसी परम्परा के प्रेम-रहस्यवादी थे। ब्राउन महोदय ने अपने फ़ारसी साहित्य के इतिहास के दूसरे भाग में इस काव्यधारा के प्रेम-तत्त्व-ज्ञान पर मार्मिक प्रकाश डालते हुए हमारे यहाँ के अद्वैत से उसकी तुलना भी की है। प्रेम-रहस्यवादियों के आगे चलकर दो पंथ हुए। एक तो वे जो प्रतीकात्मकता को लेकर ही चले जो सांकेतिक आधारों को ही सब कुछ मान बैठे वे संकेतवादी थे। अंडरहिल ने आध्यात्मिक विवाह, यात्रा तथा किमिया के संकेतों पर एक स्वतन्त्र अध्याय लिखकर तंतु-तंतु आलाचना की है। परन्तु कुछ मर्मा यह संकेतों का अवगुंठन नहीं चाहते थे। वे सीधो-सी बात कटे-कटायें ढंग से कहना ही अच्छा समझते थे; वे तत्त्ववादी थे। कबीर के 'नहर मे दाग लगाइ आई चुनरी लोग कहें बड़ी फुहरी' वाली बात इस धारा का अलक्षित प्रमाण लिये हुए है। इन सब कायिक अधिकता की प्रतिक्रिया में कुछ सार्वात्मिक वृत्ति के प्रकृति-पूजक भी खड़े हुए। वे प्रकृति-रहस्यवादी थे। वड्सवर्थ या सुमित्रानन्दन पंत इसी कौटि के कवि हैं।

इस प्रकार कविता तथा रहस्यवाद दोनों के मूल में मनुष्य की एक ही-सी वृत्ति

कार्यशील होती हुई पाई जाती है। लौकिक तथा अलौकिक, जड़ तथा चेतन, ऐसे जगत् के दोनों पक्षों में तारतम्य-प्रस्थापन की सदा की उलभन मनुष्य के जी में बसी है। उसी से चिन्ता और कविता दोनों का जन्म हुआ है। परन्तु यहाँ मनुष्य की क्रियाओं की मूलाधार मनोवैज्ञानिक संज्ञा-त्रिधारा—ज्ञान, इच्छा तथा भावना—की दृष्टि से कविता और रहस्यवाद के गठबन्धन को समझना आवश्यक है।

रहस्यवाद जहाँ ज्ञानश्रित, शृङ्ख और भाव-शून्य है, वहाँ वह कविता का अभीष्ट अथवा प्रेयस् भी नहीं। कविता या प्रेयस्-रहस्य को तो सदा ही 'तुम सत्य रहे चिर-सुन्दर मेरे इस मानव-मन के' (प्रसाद) बनकर रहना होगा। दर्शन जहाँ से भावुकता अनुरंजित होती है वहीं कविता का रहस्यवाद उद्भूत होता है। इन दोनों, बुद्धि-पक्ष तथा भाव-पक्ष, के भीतर की इच्छा-वृत्ति को भूलना उचित न होगा। कल्पना तो बुद्धि ही के अन्तर्गत आ जाती है। अतः व्यक्ति के दृष्टिकोण से रहस्यवादी कविता जहाँ इच्छा से प्रभावित भाव-पक्ष की सबलता लेकर ही चलती है, वहाँ समष्टि की दृष्टि से उसके बुद्धि-तत्त्व को भी उपेक्षित मानकर नहीं चला जा सकता। व्यक्ति को प्रेयस् जहाँ समष्टि के श्रेयस् से अपना तारतम्य जोड़ लेता है, रहस्यवादी कविता का साफल्य उसी में निहित है।

इस बाह्योपेक्षा-पूर्ण, अन्तर्विश्वासी, अन्तःप्रधान कविता के द्वारा लौकिक जड़ जगत् के बाह्याश्रित दस्तु और तथ्य को प्रधान मानकर चलने वाले विज्ञान और जड़-वाद के विरुद्ध आक्रमण प्रारम्भ होता है। मार्क्स की दृष्टि से धर्म चाहे अफयून ही हो, उसके बिना व्यक्ति जी नहीं सकता। पर प्रश्न केवल, धर्म का साहित्य-क्षेत्र में कहाँ तक प्रवेश हो. दर्शन का कविता पर कहाँ तक बोझ हो, यह है। सापेक्ष दृष्टि से इस प्रकार के प्रतिक्रियात्मक आक्रमण से लाभ और हानि दोनों ही हो सकते हैं। किंबहुना एक ही वस्तु देश-काल के अन्तर से लाभ अथवा हानि बन जा सकती है। जहाँ इस प्रकार के काव्य से लोक-पक्ष में चिन्तनशीलता, स्वार्थ और ममत्व-जनित जड़ जर्जरता पर संतोष की एक मीठी-सी मुस्कराहट और शान्ति का आधिपत्य होगा, वहीं यह शान्ति का अतिरेक कहीं विरक्त शून्यवाद के समान देश को निराश, अश्रुप्रेमी और दुःखवादी न बना डाले, यह डर भी सदैव लगा रहेगा। तो दर्शन और काव्य, धर्म और समाज के सम्बन्धों में परस्पर-पूरकता अथवा अन्योन्याश्रितता को ही कसौटी माना जा सकता है। जहाँ तक दोनों वस्तुएँ एक-दूसरे की पोषक हैं, वहाँ तक सब कुछ इष्ट है। अनिष्ट की सम्भावना तो परस्पर-विद्वेष ही से होगी। पर 'मा विद्विषावहै' का पाठ, क्या कविता और क्या दर्शन, बहुत पहले पढ़ चुके हैं।

अब साहित्यान्तर्गत विविध वादों की दृष्टि से चर्चा की जाय। साहित्य में रहस्य-वाद के पर्याप्त रूप से सन्निकट माना जा सकने वाला वाद है आदर्शवाद (आइडिय-

लिज्म)। आदर्शवाद जिस प्रकार एक रुढ़ि-सम्मत अथवा चिन्ता-सम्मत आदर्श को अभीष्ट मानकर 'अलभ है इष्ट अतः अनमोल, साधना ही जीवन का मोल' (पंत) कहकर चलता है, उसी प्रकार मर्मा आत्मा भी अपने मनोलोक में एक आदर्श को सृष्टि अवश्य करती है। परन्तु आदर्शवादी जहाँ वास्तव जीवन से अपने आदर्शों को कहीं अलग ऊँचे जाकर बैठा देता है, रहस्यवादी ठीक उससे विपरीत 'वास्तव में रमो हुई वास्तविकता' को ही अपना अभीष्ट मानकर चलता है। वह सत्य अभीष्ट उसे पूर्णतया 'आदर्श' बना देता है और वह बिम्ब-ग्रहण बहुत सरलता से करता है। (इसी भाव का एक गीत ईरानी सूफ़ी जामी का है)। आस्कर वाइल्ड ने इसलिये कला को 'आदर्श' न मान कर अवगुंठनमात्र माना है (Art is not a mirror but it is a veil.)

इस प्रकार रहस्यवादी आदर्श और यथार्थ के बीच में संधिकार के नाते उपस्थित होता है। इस कारण उसका वास्तव से भी पर्याप्तरूपेण घनिष्ठ सम्बन्ध अवश्य है, परन्तु वह 'वाद' के दायरे से घिरा हुआ नहीं। रहस्यवादी का यथार्थवाद विवाद से परे आवश्यक भित्ति-माध्यम या प्रतीक के रूप में विद्यमान है। यूरोप में वास्तववाद का अतिरेक जिस प्रकार स्वाभाववादी (नेचुरलिस्ट) और नग्नवादियों (न्यूडिस्ट्स) में जाकर परिपक्व हुआ तथा जोला, बालजाक, बादलियर, मोपासाँ और क्लुप्रिन तक में जिस वासनावाद के चिह्न स्पष्ट दिखाई देते हैं, उसी प्रकार से हम आदर्शवाद का अतिरेक रहस्यवाद को मान सकते हैं। स्वभाववाद से प्रेम-रहस्यवाद का मूलधार के रूप में, इस कारण, बहुत-कुछ सामोप्य रहता है; परन्तु जहाँ स्वभाववादियों के लिए वासना अन्तिम लक्ष्य है, वहाँ रहस्यवादी उसे माध्यम-मात्र से अधिक महत्त्व नहीं देना चाहते।

रहस्यवाद का रोमैंटिसिज्म से बहुत ही गहरा सम्बन्ध है। रहस्यवादी का मनोलोक मूर्त्त और अमूर्त्त, पूर्ण और अपूर्ण, ऐसे असंख्य कल्पना-चित्रों से रंगीन और गीतात्मक हो जाया करता है। इस कारण इसे बुद्धि की प्रखर चपलता का भावना के हाथों अनुशासित होना ही कह सकेंगे। रोमैंटिसिज्म में मुख्यतः लौकिक की उपेक्षा का भाव कार्यशील था, और वही रहस्यवादी का उद्देश्य भी है; परन्तु जहाँ रोमैंटिक कवि जान-बूझकर लौकिक को अतिरंजित रूप में देखकर या बुद्धिपुस्त्रर उपेक्षा करके, चलता है, वहाँ रहस्यवादी कवि न कभी उपेक्षा ही करता है, न अतिरंजन ही। वह लौकिक को अलौकिक द्वारा आविष्ट अवश्य देखता है, परन्तु उसने लौकिक को कभी भूल जाना भी नहीं सीखा। अन्त में कल्पनावेद के अतिरेक से प्रादुर्भूत यूरोप के वर्तमान समीक्षा-क्षेत्र में तथा कला-क्षेत्र में मनमाना तांडव मचाने वाले 'अभिग्वंजनावाद' (एक्सप्रेसनलिज्म) तथा 'बिंब-वाद' (इंप्रेशनलिज्म) का भी रहस्यवादी

कविता से सम्बन्ध देखना उचित है। क्रोचे का अभिव्यंजनावाद जहाँ तक बाह्याश्रित तथा 'आचार-प्रधान मनोविज्ञान (बिहैबियरिज्म)' के समान केवल कायिक-अभिव्यक्ति की बातें करता है, वहाँ तक मर्मियों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं, पर जहाँ वह शुद्ध साक्षात्कार के क्षणों (मोमेंट्स आफ़ प्योर इंटूइशन) की चर्चा लेकर चला है, वहाँ वह रहस्यवाद की ही वस्तु है। बिंबवाद की चर्चा तो रहस्यवादी के दिवा-स्वप्न वाले संकेतवाद में आ ही चुकी।

रहस्यवाद और काव्य की इस मित्रता के विकास का इतिहास भी कम आकर्षक नहीं। अधिकतर धार्मिक संतों की वाणी से इसका मूलारम्भ होता है। पर ज्यों-ज्यों मनुष्य-विज्ञान और शास्त्रों में बुद्धि की तेज छुरी से अधिक काम लेने लगा, त्यों-त्यों भाव-कल्पना-मिश्रित रहस्य-स्वप्न के उसके गुण कम होते गये। जहाँ तक कविता का सम्बन्ध है, रहस्यवाद ने उसे, शुद्धता, आत्मनिष्ठता, मार्मिक दृष्टि से प्रकृति की ओर देखना और संकेताश्रय प्रधानता, ये सब बातें विशेष रूप से दी है।

सैंट अगस्टीन, एलार्ट आदि के ईसाई रहस्यवाद से बहुत पूर्व सुकरात और अफ़लातून में यूनानी संस्कृति की मन और काया की सामंजस्य-भावना तथा सौन्दर्योपासक वृत्ति मिलती है। अंग्रेजी कविता-साहित्य में रोमैंटिक युग के पुनरुत्थान-काल में शेली, वर्ड्सवर्थ से ब्राउनिंग तक जहाँ रहस्यवाद की यह प्रवृत्ति स्पष्ट झलकती है, वहाँ कीट्स, ब्लेक, मॅटर्लैंक और इतर अत्याधुनिक पश्चिमी लेखकों में भी यह वृत्ति प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से बहुत कार्यक्षम जान पड़ती है। अंग्रेजी रहस्यवाद की विशेषता उसका उथलापन है। अंग्रेज हृदय कभी भी विशेष रूप से रहस्य-भाव-प्रवण न हो सका। हाँ वर्ड्सवर्थ और शेली का प्रकृति-रहस्यवाद अवश्य बहुत प्रभावशाली चीज़ रही।

पर इसमें बहुत पहले फ़ारस में धर्म की कट्टरता के विरुद्ध सूफ़ियों का आन्दोलन उठ खड़ा हुआ था। इसका उल्लेख ऊपर आ चुका है। हाफ़िज़, जामी और ख़य्याम के इस प्रेममूलक रहस्यवाद में बेहोशी और खुमार का प्राधान्य है। 'ई शर्बते आशिकी हमा मर्दारास्त' अथवा 'पेश आ सबुक राहते-रूह ऐ साक़ी' वाली ख़य्याम की रुबाइयों में केवल शून्यता नहीं है। उसका एक-एक कूज़ा रहस्यवाद से लबालब भरा है। उर्दू कविता में लाक्षणिकता इसी फ़ारसी प्रभाव से आई।

फ़ारस की यह धारा हिन्दी कविता में जायसी, कबीर, मोरा पर अपना प्रभाव डाल चुकी थी। कबीर के रहस्यवाद पर प्रकाश डालने वाले पाँच दोहे इस प्रकार हैं—

(१) पावक रूपी साइयां, सब घट रहा समाय ।

चित्त चकमक लागै नहीं, तातै बुझि दुझि जाय ॥

‘गुरु’ अथवा निखिल<sup>१</sup> विश्व का जो परम स्वामी है वह तो सर्वव्यापी है। वह प्रत्येक के हृदय में विद्यमान है, परन्तु उसी तरह अव्यक्त रूप से, जैसे पत्थर में आग छिपी रहती है। परन्तु चित्त के पत्थर को चमक के साथ जब तक घर्षित नहीं किया जाता तब तक चिनगारी नहीं उत्पन्न होती। इसी कारण उस अव्यक्त परम-पावक को कभी-कभी झलकमात्र तो मिल जाती है, परन्तु फिर वह कहीं अदृश्य हो जाती है। आवश्यकता है किसी गुरु-रूपी चमक के संयोग में आने की, जो उन छिपे हुए अग्निकणों को स्पष्ट रूप से प्रज्वलित कर दे।

(२) सर्गुण की सेवा करूँ, निर्गुण कहा प्रमाण।

सर्गुण निर्गुण से परे, तहँ हमारा ध्यान ॥

कबीर कहते हैं कि यदि परमात्मा को सगुण कहें तो उसमें सेवाभाव की आवश्यकता रहती है, उसी प्रकार निर्गुण में बुद्धि द्वारा आकलन की (अर्थात् ‘सगुण-निर्गुण’ दोनों उपासना-पद्धतियों में अहं-भाव विद्यमान रहता है); परन्तु कबीर का ‘साईं’ तो ‘खालिक खलिक, खलिक में खालिक, सब घर रहा समानी’ जैसा है, उसमें ऐसा ‘बिलगि-बिलगि बिलगाई हो’ कैसे हो सकेगा? ब्रह्म तथा जीव को एकरस-एकरूप मानने वाले शुद्धाद्वैतवादी कबीर को ऐसा विशिष्टाद्वैत पसन्द न था इसी से वे हठयोगी के नाते कहते हैं कि दासभण्ड या ज्ञान-साधना से कहीं अधिक ध्यान-भ्रमण की आवश्यकता है जिसमें कि सगुण-निर्गुण सबसे परे केवल सच्चिदानन्द बसते हैं।

(३) मानसरोवर ... अन्त न जाय।

इस दोहे में परमावस्था का चित्रण है। हंस से कबीर मुक्तात्मा का अभिप्राय लेते थे। यह दोहा कबीर के उन दोहों में से है जिनमें सांकेतिकता अधिक होने से मूल अर्थ उतना स्पष्ट नहीं होता। सरल शब्दार्थ तो यों है कि हंसी जब केलि करती है तब मानसरोवर का अवगाहन अतिशय सुकर हो जाता है, और उस मुक्त अवस्था में जब कि मानसरोवर में केलि अर्थात् ‘सुरति’ स्वामी (परमात्मा) के साथ हो तब सीपियों में से मोती (आँखों के अश्रु आदि) चुन लिये जाते हैं, अथवा कठिन सीपियों में की ज्ञान-मुक्ता (मुक्ति) उपलब्ध की जाती है और फिर ‘आवागमन न होय’। इसमें ध्यान देने योग्य दो बातें हैं—एक तो ‘केलि’ द्वारा आध्यात्मिक एकाकारता का स्पष्ट उल्लेख और दूसरे ‘अब उड़ि अन्त न जाय’ में समस्त मानवी, लौकिक गति का अन्त। अर्थात् सायुज्य-प्राप्ति के बाद योनि-भ्रमण का कैसे अन्त हो जाता है, यही इससे स्पष्ट ध्वनित होता है।

(४) भरे... सोई कहाय।

साधारण ज्ञान के अनुभव में तो जो मन रिक्त है वह परिपूर्ण होता जाता है,



और जो मन परिपूर्ण है वह रिक्त होता जाता है; परन्तु चरम अनुभव की दशा में तो खाली और भरा हुआ, इस प्रकार का कोई भेद नहीं है। सच्चे त के लक्षणों में कबीर इसी बात को दूसरे शब्दों में कहते हैं कि 'भाव और अभाव' दोनों साधु के लिए एक-से हैं। कबीर अकिंचन और धनिक, मूर्ख और पंडित में भेदभाव न मानकर संपूर्ण समत्व को साथ लेकर चलते हैं। उन्हीं 'समत्व' की भावना को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि यह पंचतत्त्व और वह तत्त्व दोनों एक-से हैं। वस्तुतः सबके भीतर रमी हुई आत्मा एक-सी है। अन्तर केवल बाह्य द्रव्य, गात्रों का है, अवयवीय है। और इसके कारण यदि कबीर की बात समझना हो तो हृदय से, आत्मा से समझो, न कि तार्किक पद्धति से। कविता और विज्ञान के सम्बन्धों की चर्चा आगे होगी।

(५) विरहा... समशान।

अब वियोग-पक्ष की महत्ता बताते हुए वे कहते हैं कि चूँकि मनुष्यों 'दुःख में ही सुमिरन करै'। इस कारण विरह को छोटा या नौकर समझने की आवश्यकता नहीं; ऐसा समझना भूल है। विरह तो नराधिप है, सर्वसत्ताशाली, सर्वान्तर्यामी है। जिसके हृदय में विरह संचारित नहीं होता, वह हृदय क्या है, श्मशान है। इसमें विरोधाभास कितने मजबूत है—जो विरह से व्याकुल है वह हृदय श्मशान-सा होगा, या जो नहीं है वह? परन्तु यहाँ श्मशान से उनका अभिप्राय शून्यता से है। जिस अन्तर में विरह नहीं वह तो रिक्तमात्र है, चाहे उसमें क्षणिक सुखों का कैसा भी भाँडार क्यों न भरा हो।

कबीर के इन पाँच दोहों के बाद मीरा के रहस्यवाद की कुछ चर्चा की जाय। मेवाड़ के मरुप्राय मानस में भक्ति की मन्दाकिनी प्रवाहित करने वाली महारानी मीरा की कविता रचना नहीं, हृदय के स्वाभाविक उद्रेक से फूटे उद्गार हैं। मीरा के अठूठे गीति-काव्य पर विचार करने से पूर्व उनकी वैयक्तिक तथा तत्कालीन सावंदेशीय परिस्थितियों का पार्श्वपट प्रस्तुत करना आवश्यक है। सामन्ती राजस्थान के अतुल गौरव, चित्तौड़ के ऊँचे-ऊँचे महल, अनगिनत परिचारिकाएँ उनकी सेवा में प्रस्तुत थीं। परन्तु वंभव और ऐश्वर्य का यह अतिरेक उनके अन्त-स्थल में अनुराग न उपजाकर विराग का निर्माण करने में ही कारणीभूत हुआ। यह मानसिक प्रतिक्रिया भली भाँति समझने के लिए मीरा के जीवन से सम्बन्धित उन बातों को भी जानना आवश्यक है जिनके कारण मीरा स्त्री न रहकर 'बैरागिन' या 'भगतिन' बन गईं। पति की मृत्यु के उपरान्त मीरा को अपने देवर 'राणा' के हाथों अनेक प्रताड़नाएँ सहनी पड़ीं। दुःखिनी विधवा का भक्ति-उन्मुख मन इन सब लौकिक कष्टों को सहते-सहते, ननद-जेठानियों के वाक्-प्रहार झेलते-झेलते 'सदेव अपने 'गिरिधर गोपाल' की 'बाँकी, साँवली सूरत' में हाँ लगा रहा। जब लौकिक पीड़ा का अतिरेक हो गया;

कि 'नहीं तराजू तोल', आदि बाते रहस्यवादी के उत्कट आनन्द की चरम स्थिति की द्योतक हैं ।

कबीर के समान आध्यात्मिक विवाह के उल्लेख भी मीरा में अनेक स्थलों पर लक्षित हैं । जहाँ वह कहती है कि 'लोकलाज खोयी' और 'बदनामी लागे भूए घणी मीठी जी', वहाँ उसका लौकिक लज्जा अलज्जा के बन्धनों से परे, निर्भोक, अलौकिक और शुद्ध प्रेम जो है वह कबीर के 'सतगुरु रे रंगरेज, रंग दे मेरी चुनरी' से क्या कम है ? जहाँ मीरा को 'सेज अलोनी' लगती है और 'रमैया बिनु नौद न आवे' की अनुभूति होती है, वहाँ कबीर का 'पिया चलो सेज' और 'हरि मोर पीव, मैं हरि की बहुरिया' वाला भाव है । परन्तु मीरा के स्त्रीत्व के कारण उनकी इस प्रकार के माधुर्य-भाव की उपासना कबीर से कहीं अधिक सराग है । कबीर इतने सुन्दर उलाहने नहीं दे पाते, जैसे मीरा ।

इस प्रकार के प्रतीकवाद में माध्यम अथवा गुरु की भी बड़ी आवश्यकता होती है । कबीर ने जहाँ जगह-जगह गुरु की महिमा गाई है, वहाँ मीरा ने भी 'जीगी मत जा' की बात कही है—और यह भी कहा जाता है कि मीरा ने रैदास को गुरु माना था । परन्तु इस प्रकार के रहस्यवाद में सबसे मर्मस्पर्शी भाव-स्थल वह होता है जहाँ भक्त-प्रेमी की आत्मा 'असीम' के विरह में तड़पती-रहती है और मार्ग-प्रतीक्षा करती रहती है । मीरा विरहिन बनकर 'पाणां री पीली पड़ी' की अवस्था में जहाँ 'दिन गएतां-गएतां घिस गई रे, आंगलिया री रेख' की बात कहती है और 'अंसुग्रन जल सींच-सींच प्रेमबेलि बोई' की तन्मयता प्रदर्शित करती है, वहाँ कबीर भी 'जा घट विरह न संचरै ता घट जान मसान' वाली बात कहते हैं । मीरा का वियोग-पक्ष गोपी के हृदय में एक प्रत्यक्ष 'नन्दलाल' के प्रति लगी 'लाय' की याद दिलाता है, जब वे अनुरोध कर-करके थक जाती हैं कि 'बसो मेरे नैनन में नन्दलाल !'

मीरा की भक्ति की कविता ज्ञानाश्रयी शाखा में से नहीं मानी जा सकती । ज्ञानाश्रयी निर्गुण संतों की दृष्टि में जो उपास्य अथवा अन्तिम आराध्य है वह नाना रूप में प्रदर्शित होता हुआ भक्त के हृदय को चिर-आलोकित करता रहता है वह आराध्य की एकरूपता पर ही आग्रह नहीं हुआ करता । जब गोस्वामी तुलसीदास ने पत्रोत्तर में मीरा को राम की महत्ता दिखाई तब मीरा ने अति सहज भाव से उसे स्वीकार कर लिया । गोस्वामी जी की तरह 'तुलसी मस्तक तब नवै' नहीं कहा । मीरा के लिए वस्तुतः राम और कृष्ण में अन्तर ही नहीं था । उनके लिए वे दोनों एक ही अव्यक्त सत्ता के दो रूप थे । इस कारण साधनों का अन्तर होने पर भी मीरा में ज्ञानाश्रयी संतों की-सी साध्य की इकाई स्पष्ट दिखाई देती है । कबीर की तरह

हठयोग आदि बातों का निरूपण मीरा ने नहीं के बराबर किया, क्योंकि मीरा का रहस्य-  
वाव ज्ञानाश्रित नहीं था। मीरा का मन तो इतना भोला और तल्लीन था कि उनके  
निकट ज्ञान, भक्ति और कर्म के तार्किक भेद का आकलन ही नहीं हो सकता था।  
मीरा के रहस्यवाद में भक्ति का स्नेहाद्रं रूप ही मिलता है।

## छायावाद का भविष्य

हिन्दी की आधुनिक कविता के क्षेत्र में द्विवेदी-युगीन कवियों की, मसलन रत्नाकर, सत्यनारायण, श्रीधर पाठक, हरिऔध और मैथिलीशरण गुप्त जी की पीढ़ी के बाद जिन कवियों ने आज तक रचनाएँ लिखीं, उन सब के लिये साधारणतयः प्रयुक्त अभिधान है 'छायावादी'। इसमें 'प्रसाद', पन्त (पन्त के दो रूप हैं 'युगान्त' तक के प्राचीन पन्त और युगान्तोपरान्त युगवाणी, ग्राम्या आदि के नवीन पन्त; अतः कहे प्राचीन पन्त) 'निराला' ये अध्वर्यु हैं। वर्मात्रयी-महादेवी, रामकुमार, भगवतीचरण भी किसी न किसी प्रकार इसी के अन्तर्गत आ जाते हैं। और फिर हैं कई छोटे-बड़े कवि। इस 'छायावाद' नामक विस्तृत वर्ग के अन्तर्गत रहस्यवाद, हृदयवाद, हालावाद, समाधिवाद आदि अनेकानेक 'वाद' भी आ जाते हैं। इस लेख में इस शब्द 'छायावाद' और छायावादी कविता की कुछ गुण-दोष की चर्चा होगी, और उसके भविष्य के विषय में कुछ आशंकाएँ और विश्वास।

साहित्य के इतिहास में भी, जैसे सर्वत्र, स्थिति-विरोध-गति (Thesis, Antithesis, Synthesis) वाला नियम लागू होता है। व्यक्ति साहित्यिक किन्हीं परिस्थितियों की निपज है, जिनसे वह भगड़ता है, जूझता है। परिणाम यह है कि वे ही परिस्थितियाँ जिनसे उस व्यक्ति ने जीवन-रस और स्फूर्ति पाई, उस व्यक्ति की विशेषताओं से और वाणी से ओजस् प्रसाद और मधुरिमा पाती है। वे बादल जो 'जीवन' से निकले; क्षार तजकर ऊपर गये; फिर 'जीवन' बनकर जमीन पर उतर आये—और इसी तरह ऊपर और नीचे, आदर्श और यथार्थ का सतत संघर्ष साहित्य का (और क्या मानव का और क्या राष्ट्र का) इतिहास है।

छायावाद किन परिस्थितियों में पनपा ? कौनसी ऐसी विशेषता या आकर्षण लेकर वह आया कि जो उठा वह छायावाद का प्रेमी बन गया ! घर-घर वैसा ही कवि बनने लगे; द्वार-द्वार वैसी ही कविता पढ़ी जाने लगी। वह परिस्थिति थी महायुद्ध का अन्त, हिन्दी का प्रान्तों तक प्रसार और ब्रजभाषा की कविता का ह्रास, विपुल समाचार पत्रों का प्रकाशन, राजनीति में गान्धीवाद का प्रारम्भ। अतः छायावाद में उस परिस्थिति से प्राप्ति, और उसके विरोध में निम्न प्रवृत्तियाँ प्रधान थीं—

१. रीतिकालीन 'स्थूल सौन्दर्य' के विरोध में सूक्ष्म सौन्दर्य का आवाहन और आरोपण यथा पद्माकर और मतिराम की नायिकाओं के बदले 'पन्त' को काल्पनिक

प्रेयसी, 'प्रसाद' के 'आँसू' का प्रेम विषय (जिसके लिंग के विषय में आलोचक अङ्गी शंकित है—शशिमुख पर धूँघट डाले 'तुम आये।') आदि। Sex-sublimation या वासना के उत्तोलन वाला प्रेम-काव्य।

२. कल्पनाप्रियता का आकर्षण ज़रा भी कम न हुआ। मगर अंग्रेज़ी जानने वाले कवियों के कारण, शैली-कीट्स-टेनीसन का अचेतन प्रभाव, कल्पना की नक्कासी शब्दों के स्विनबर्न जैसे संचय से, अनकार-प्राचुर्य से उठकर अब, प्राकृतिक चित्रण में लगा दी जाती ('पल्लव', 'भरना' और 'परिमल' इनसे भरे) है। संकेतवाद का खूब प्रयोग।

३. रवीन्द्रनाथ का प्रभाव और गद्य-काव्य का हिन्दी में विकास। चतुरसेन शास्त्री के अन्तस्तल और वियोगी हरि जी की विह्वल प्रेम-भावना के साथ सन्त-काव्य के अभिजात्य (Classical) की ओर एक रुझान जिसे कह सकते हैं—एस्केप (पलायन) इस प्रवृत्ति में से उपजा रहस्यवाद या हालावाद।

४. चित्रण और संगीत के समन्वय के साथ (यथा 'पल्लव' की भूमिका में पन्त काव्य को 'चित्र-राग' कहते हैं) उर्दू वालों की कहने की-खूबी और ताज़ुक-ख़याली तथा संक्षेप में बहुत सी बात कह देने की पद्धति की ओर, ज्यों-ज्यों जीवन संघर्षपूर्ण और अवकाश कम होने लगा, कवियों का झुकाव। गीतिकाव्य में 'हृदयवाद' नाम की जो चीज़ रामकुमार वर्मा ने अपनी 'साहित्य-समालोचना' में प्रस्तुत की वह इस बात की चित्र-रेखा थी। छन्दों में प्रयोगशीलता की ओर 'निराला' का प्रगतिपूर्ण कदम इसी का साक्ष्य है।

५. और इस सब स्थूल से सूक्ष्म की ओर उठने की गान्धीवादी विचार-पद्धति में जल्दबाज़ी हो जाने के कारण या साधना के अभाव में कविता में अहिंसा की तरह एक रोग धीरे-धीरे फैलता गया—दुःखवाद, निराशावाद। महादेवी उस 'वाद' की प्रतीक हैं चिर-भर-भर-भर। यानी नयन उनके बादल हैं और कविता उनकी गीली। 'बच्चन' के 'एकान्त-संगीत' तक 'कोई पार नदी के रोता' वाला निराशा-निमन्त्रण स्पष्ट है। और इस सबकी बुनियाद थी, जो घनीभूत पीड़ा थी—'मस्तक में स्मृति-सी छाई'।

×

×

×

छायावाद पर अब नये यथार्थवादी और प्रगतिवादियों की ओर से (Neo-realistics and progressivists) ओर से किये जाने वाले आक्षेपों का विचार किया जाय।

१. हिन्दी में रोमैटिसिज़्म का यह रूप, जैसे श्री नगेंद्र जैसे कई आलोचक मानते हैं वैसे अंग्रेज़ी साहित्य के 'रोमैटिक रिवाइवल' जैसा ठीक विद्रोह और विकास-

पूर्ण नहीं है। हिन्दी का छायावाद विद्रोह अधिक है, विकास कम।

२. और अब आकर छायावाद अपनी ही छाया का शिकार बन गया है। यानी उसके विषय सीमित है। उसका दृष्टिकोण संकुचित। वह कतिपय शब्दों का सुघर-बुनाव या जाल मात्र है। वह गूँज नहीं, अनगूँज है।

३. कल्पना पूजन या कल्पना ही कल्पना का एकान्त और एकांगी आराधन हमारी कविता को अमर-बेल बना देगा। वह जीवन की जड़ों से उखड़ा और मात्र ऊर्ध्वोन्मुख है, जैसे स्व० पं० रामचन्द्र शुक्ल ने बहुत मार्मिकता से कहा था—“इस प्रकार काव्यक्षेत्र नकली हृदयों का कारखाना बन गया।” ‘प्रगीत-मुक्तकों’ में यह प्रवृत्ति ‘साधारणीकरण’ भुलाकर ‘व्यक्ति-वैचित्र्य-वाद’ की ओर हमें ले जायगी, जो अहितकर है।

४. शिवदानसिंह चौहान या प्रकाशचन्द्र गुप्त जैसे प्रगतिवादी आलोचकों के मत से छायावाद अपनी जिन्दगी जी चुका और अपने ही हाथों वह मरेगा। क्योंकि अब उसका अपना कोई भविष्य नहीं। जमाना आगे बढ़ चुका है। वर्ग-संघर्ष तीव्र है और कोई भी ऐसा-पलायन उन्हें मान्य नहीं।

५. नन्ददुलारे बाजपेयी जी ने बड़ी कुशलता से अपनी नई पुस्तक ‘जयशंकर प्रसाद’ में उन्हें छायावाद का आरम्भ कर्ता नेता बनाने और बिना हिचकिचाये कहने से वे बचे हैं। या ‘प्रसाद’ जी को उन्होंने छायावाद की बुराइयों से मानो बचा लिया है। परन्तु वे ‘अंचल’ के समर्थक हैं, साथ ही पूनावाले भाषण में Puritanism के भी हिमायती जान पड़ते हैं।

इन आक्षेपों के भी उत्तर दिये जा सकते हैं। और सोदाहरण सिद्ध-असिद्ध किया जा सकता है; पर यों लेख बड़ा हो जायगा। विद्यार्थी इतने ही से कुछ विचार करने का मसाला पा-जायें तो काफ़ी हैं।

## नयी हिन्दी-कविता में छन्द-प्रयोग

खुल गये छंद के बंध  
 प्रास के रजत-पाश,  
 अब गीत मुक्त  
 औ' दुगवाणी बहती अयाँस ! —पंत  
 तुक टूटी तो  
 सिर झुकते थे,  
 तुक जुड़ती  
 मुसका जाते थे !  
 जब जीवन सम्मुख आता—  
 बस,  
 उसे बेतुका बतलाते थे ! —निराला  
 मेरा कहना है ब्रजभाषा मोस्ट रदी है,  
 खारवाँ की गद्दी है,  
 और स्वच्छन्द मेरा राग घट-बढ़ है,  
 छन्द जो रबड़ है ।' —'उजबक' : उग्र

उजबक प्रहसन का पात्र चाहे जो कहे, पं० रामचन्द्र शुक्ल 'निराला' के सम्बन्ध में दो परस्पर-विरोधी (या परस्पर-पूरक) बातें कहते हैं ।

'संगीत को काव्य के और काव्य को संगीत के अधिक निकट लाने का सबसे अधिक प्रयास निराला जी ने किया है ।'

'सबसे अधिक विशेषता आपके पद्यों में चरणों की स्वच्छंद विषमता है ।

...बेमेल चरणों की आजमाइश इन्होंने सबसे अधिक की है ।'

निराला 'बंधनमय छंदों की छोटी राह' छोड़कर, छंद की कारा तोड़कर हिन्दी में मुक्त-छंद को बंगाल से लाये । 'परिमल' की भूमिका में वैदिक काव्य की गण-साम्य-विहीनता का उदाहरण देकर निराला जी ने बतलाया है कि ज्यों-ज्यों सभ्यता नियम-जड़ित होती जाती है, उसमें चित्रमयता बढ़ती जाती है, अनुशासन जकड़ते चले जाते हैं । छंद भी जिस तरह कानून के अन्दर सीमा के सुख में आत्मविस्मृत हो सुन्दर नृत्य करते, उच्चारण की शृंखला रखते हुए, अवगण-माधुर्य के साथ-ही-साथ

श्रोताओं को सीमा के आनन्द में भुला रखते हैं, उसी तरह मुक्त-छंद भी अपनी विषय-गति में एक ही साम्य का अपार सौन्दर्य देता है, जैसे एक ही अनन्त महा-समुद्र के हृदय की सब छोटी-बड़ी तरंगें हों, दूर प्रसरित दृष्टि में एकाकार, एक ही गति में उठती और गिरती हुई। नयी हिन्दी-कविता में छंद के विषय में लिखना निराला और परवर्ती कवियों के छंद-विषयक प्रयोगों पर लिखना है। संक्षेप में, मुक्त छंद पर लिखना है।

मुक्त छंद को परिभाषित करें। 'मुक्त' का अर्थ यह है कि रुढ़ छंद-शास्त्र से, संस्कृत-परम्परा से आने वाले हिन्दी के पिगल और देशज तर्जों या जातियों से, घिसे-घिसाये या पिटे-पिटाये काव्य-रूपों से भिन्न, स्वतंत्र, नवीन छंद-विधान। परन्तु इस मुक्ति का अर्थ यह नहीं कि वह सर्वथा अराजकतापूर्ण गद्य मात्र हो। यद्यपि आधुनिक कविता में गद्य और पद्य की सीमाएँ बहुत-कुछ मिटती जा रही हैं बकौल जी० एम० हांपकिन्स के।<sup>१</sup>

फिर भी इस बँगला के अभिन्न, हिन्दी के भिन्नतुकांत और स्वच्छन्द गुजराती अपद्यगद्य और सराठी के 'मुक्त' छंद के विषय में, जो बहुत-कुछ अंग्रेजी के ब्लैक वर्स फ्री वर्स या वर्स लोकर से प्रभावित है, विशेष जानना आवश्यक है।

मूलतः इस समस्या के दो अंग हैं—(१) कविता छंद-बंधन से मुक्त हो, यानी इस प्रकार बँधे-बँधाये छंद से छुटकारा पाले, उसका कुछ नहीं बिगड़ता, क्योंकि छंद एक कृत्रिम, बाह्य पाश है, (२) पुराने छंद-प्रकार अब चमत्कार-शून्य हो गये हैं।

अब पहले तो यही देखना होगा कि छंद क्या कविता का पहिनावा मात्र है या कि मूर्ति-वत्ता है? वह कविता का बाह्य वेश है या आकार है? वह कविता की रस-वस्तु से निगड़ित उससे निर्णीत कोई रूप है या उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है? फिर यह देखना होगा कि छंदस्त्व किस चीज पर निर्भर करता है—ताल पर, लय पर, अक्षरमैत्री पर, प्रास पर या गण-मात्राओं की आवृत्तिमात्र पर? फिर छंद को कविता की संगीतात्मकता से भिन्न मानना होगा। अध्यापक रामखेलावन पांडेय अपने 'गीति-काव्य' पर अज्ञेय का गीत 'दूर-वासी सीत मेरे' उद्धृत कर आगे भाष्य में लिखते हैं—

---

१. वी मस्ट नॉट इन्सिस्ट ऑन नोइंग ह्वेयर दि वर्स एंड्स एंड प्रोज (ऑर वर्सेस ऑपोजीशन) बिगिन्स, फ्रॉर दे पास इन्टू वन ऐनदर !

पद्य कहाँ समाप्त होता है और गद्य (अथवा अपद्य-रचना) कहाँ आरम्भ होता है, यह जानने का आग्रह हमें नहीं करना चाहिए; क्योंकि वे दोनों एक दूसरे में मिल जाया करते हैं।



१४ मात्राएँ। 'पहुँच क्या तुम तक सकेंगे काँपते ये गीत मेरे' = २८ मात्राएँ। 'गीत,' 'विनीत' में रजीफ़ का मेरे में काफ़िये का आग्रह है। 'आज कारावास...छार जलकर' में रुबाई का ढंग स्पष्ट लक्षित है। लेकिन गायक अथवा पाठक का ध्यान इस छंद-बंध की ओर न जाकर सहज स्वाभाविक गीति-प्रवाह की ओर जाता है। शब्दों की प्रकृत संगीतात्मक शक्ति द्वारा रागात्मक वृत्ति को स्फूर्ति मिलती है। यह गीति-काव्य बाद्य-यंत्र की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता। आवृत्ति, प्रकृति और अभिव्यक्ति के द्वारा सहज अंतस्थित संगीत की धारा फूट पड़ती है। संगीत इसकी आत्मा के साथ घुला-मिला है। संगीत स्वरूपात्मक न बनकर आत्मिक बन जाता है। '...तालैक्य की दो श्रेणियाँ हैं—एक आन्तरिक, दूसरी बाह्य। छंद के बंधन इस बाह्य तालैक्य की अपेक्षा रखते हैं। '...अन्तर्तालैक्य का निर्वाह और अविच्छिन्न आंतरिक धारा का सफल निर्वाह गीति-काव्य का लक्ष्य होता है। '...इस प्रकार गेय काव्य से गीति-काव्य भिन्न है।

मराठी ग्रन्थ 'छंदोरचना' के आरम्भ में डॉ० पटवर्धन ने सभी मात्रा-प्रबन्धों का पद्य मानकर उनके तीन विभाग किये हैं—(१) वृत्त या लगत्वभेदानुसारी अक्षर-संख्यक रचना। इसे अक्षरछंद भी कहते हैं। इसी के दो भेद हैं—(क) भिन्न मात्रा-वली के संख्याक्रम भेद से सिद्ध होने वाले वृत्त; और दूसरे (ख) किसी विश्लेष-गण की पुनरुक्ति से सिद्ध होने वाले वृत्त; (२) छंद या लगत्वभेदसहित अक्षर-संख्याक रचनाएँ जिनमें षण्मात्रिक ताल और अष्टमात्रिक ताल के दो भेद हैं—(३) जाति—लगत्व भेदानुसारी तथापि अक्षर-संख्यक नहीं, अपितु मात्रा-संख्याक रचना। इसमें भी मात्रा षण्मात्रिक और अष्टमात्रिक ताल के दो भेद हैं। साधारण पिंगलों में गण-वृत्त, मात्रा-वृत्त और अक्षर-वृत्तों की चर्चा होती है, जैसे मालिनी, शिखरिणी और शाद्वलविक्रीडित, आदि विद्युन्माला से स्रग्धरा तक के छंद जो 'यमाताराजभानसलगम्' से बँधे रहते हैं। हिन्दी के प्रियप्रवास और सिद्धार्थ काव्य इनमें हैं। बाद में ये छंद क्यों हिन्दी में लोकप्रिय न रह पाये, पता नहीं। मराठी-गुजराती में ये छंद, विशेषतः शाद्वलविक्रीडित, मन्दारमाला आदि अभी भी बहुत प्रचलित हैं। दूसरे प्रकार से वर्णिक छंद अभी भी हिन्दी में रूढ़ हो गये हैं और वे चामर, गीतिका आदि के रूप में 'मिट्टी की ओर' में दिनकरजी 'तुलसीदास' के छंद की विवेचना में पद्धरी अथवा पद्धटिका की चार पंक्तियाँ और अंत में लघ्वंत मात्राओं का वर्णन करते हैं। 'पद्धरी अथवा पद्धटिका' की दो पंक्तियों का मिलित प्रवाह बहुत-कुछ पिंगल के मत्तसवैया तथा शुद्ध ध्वनिछंद से मिलता-जुलता है। इस १६ मात्राओं वाले छंद के साथ-ही-साथ १४ मात्रा वाले प्रसादी छंद को 'उड्डू के मफइलो मफाईलुन, मफऊलो मफाईलुन' बहर के वजन पर निकला हुआ-सा' दिनकर मानते हैं। महादेवी की 'नीरजा', 'सांध्यगीत'।

‘यामा’ में तथा बच्चन के ‘एकांत संगीत’, ‘निशा-निमंत्रण’ आदि में गजल के काफ़िये-रदीफ़ पद्धति की भी छाया दीखती है। परन्तु ये सब वर्णिक और मात्रिक छंद अंततः रुढ़ छंद की ही कोटि में आते हैं। परन्तु स्पष्ट है कि भुक्त छंद के जो प्रयोग आज हिन्दी की नयी-से-नयी कविता में मिल रहे हैं, उन पर उर्दू, अंग्रेज़ी, लोकगीत का धुनों, अन्य भाषाओं के छंद-प्रयोगों की स्पष्ट छाया होने पर भी हिन्दी की देशी छंद-पद्धति से कटकर वे प्रयोग बिल्कुल अटपटे लगेंगे—जैसे शमशेर बहादुर के कुछ नये प्रयोग, या केदारनाथ अग्रवाल की तालात्मक गद्य-रचना।

और गहरे जाकर हमें मुक्त छंद में भी उस तत्त्व को, जो कि उसे गद्यात्मक नहीं बनने देता, उस ‘अंतर्तालैक्य’ और लय की स्वरूप-सिद्धि को समझना होगा। क्योंकि लय और ताल संगीत से लिये हुए शब्द हैं, इसलिए यह स्पष्ट जान लेना होगा कि संगीत-लय से छंदोलय कैसे भिन्न है। वा. ना. देशपांडे के अनुसार—

संगीत स्वर-प्रधान है। उसका आधार श्रुति, ताल, मात्रा आदि है।

छंद अक्षर-प्रधान है। उसका आधार गणमात्रा, स्वराघात आदि है।  
‘यजुसामनिषताक्षरत्वादेतेषां छंदो न विद्यते।’

सभी संगीत छंदमय नहीं होते। कई ‘चीजों’ में संगीत होता है; किन्तु काव्यत्व नहीं। दादरे या ध्रुपद या अडाने के बोल संगीत के गणित के समान हैं। उनमें अर्थ प्रधान नहीं।

सभी छंद संगीतानुकूल नहीं होते। कई पद्य-प्रकारों में छंदस्त्व होता है; परन्तु संगीत-लय नहीं होती। (उदाहरणार्थ हिन्दी का डिंगलकाव्य) छंद में नाम की अपेक्षा ध्वनि-चित्रों पर अधिक ध्यान होता है।

संगीत की चीजों को आप सीधे पढ़िये, या उनका ‘रेसीटेशन’ (तालबद्ध आवृत्ति) कीजिए, कोई आनन्द नहीं आवेगा। कभी-कभी ताल भी नहीं जान पड़ेगा।

छंदमय पद्य-रचना के सीधे पढ़ने से भी साहित्य-प्रेमी प्रसन्न होगा। उसमें का छंदस्त्व बिना गलेबाजी के भी प्रभावशाली होगा।

संगीत के लिए पद्य-रचना आवश्यक नहीं। केवल अक्षर पर्याप्त होते हैं।

छंद की लय से पद्य की अक्षर-रचना का नियमन होता है। मुक्त-छंद भी छंदस्त्व से मुक्त नहीं हो सकता। अन्यथा वह गद्य हो जायगा।

‘गायनवादननर्तन इति संगीतः’।

अन्वयति इति छंदः (जो आह्लाद दे वही छंद है)।

‘प्रसाद’ जी ने अपनी ‘काव्यकला’ में लिखा है—‘संगीत नादात्मक है और

कविता उससे उच्चकोटि की अमूर्त कला ।' तो यह हम मानकर चलें कि जिस कविता की हम चर्चा करने जा रहे हैं, उसमें सूक्ष्म छंदोत्पत्ति तो एकदम आवश्यक है ही । उसके बिना वह पद्य न रहकर, गद्य-रचना बन जायगी । कभी-कभी पद्य के बीच में कहीं भावों को नाट्यात्मक ढंग से तीक्ष्णतर बनाने के लिए गद्य का भी प्रश्रय लिया जा सकता है, जैसे मराठी के वीरकाव्य 'पोवाडों' के छंदों में गति को और तीव्रता देने के लिए बांच में एक-दो पंक्तियाँ एकदम गद्यप्राय बोली जाती हैं । जैसे, बच्चन के 'बंगाल का काल' में 'गाँड हेल्प्स दोज हू हेल्प देमसेल्फ' को गद्य नहीं तो कैसे पढ़ेंगे ?—छंद की लय के साथ यह पंक्ति बीच में ही भिन्न प्रकार की जान पड़ती है ।

हिन्दी-कविता में नये कवियों ने जो इस क्षेत्र में कुछ प्रयोग किये हैं और उन्हें इस दिशा में जो कठिनाइयाँ जान पड़ी हैं, या और जो संभावनाएँ इस क्षेत्र में हैं, उन पर विस्तृत विवेचना एक एक कवि को लेकर, उसकी रचनाओं से उदाहरण देकर, करें । इस क्षेत्र में सबसे पहिला नाम 'निराला' जी का आता है । 'पंतजी और पल्लव' नामक निबन्ध में 'निराला' ने कोमल और पुरुष मुक्तछंद के भेद की चर्चा की है । उदाहरणार्थ पंत के 'रूपाभ' से ये दो गीत लीजिये । इनमें गति-यति का साम्य कहाँ है ?

(१) राग, केवल राग !

छिपी चराचर के अंतर में—

अनिर्व्याप्य चिर आग,

राग, केवल राग !

प्रथम पंक्ति पढ़ने पर यह 'र-त' गण का छंद जान पड़ता है । परन्तु दूसरी और तीसरी पंक्तियाँ मात्रिक छंद की हैं—१६, ११ की ।

- (२) तूल जलद, ऊर्ण जलद —( 'भ-गण, दो लघु' की पुनरावृत्ति )  
 तूम-धूम, जलपूर्ण जलद —( गति-भंग, मात्रिक पंक्ति, १४ मात्रा )  
 कात मसृण जलसूत —( ११ मात्रा )  
 भू-पट पर जीमूत —( ११ मात्रा )  
 हरित काढ़ते तृण, तरु, छंद !—( १४ मात्रा )

(इसी प्रकार के १२, १४, ११, ११, १४ की आवृत्ति वाले आगे के सब छंद हैं ।)

उर्दू का रंग नयी हिन्दी-कविता पर इतना अधिक आ गया है, क्या आप नीचे की दो पंक्तियाँ पढ़कर कल्पना कर सकते हैं कि क्या किसकी लिखी हुई होंगी—

लड़ाई कड़ी है, मगर आखरी है  
खयालात अपने, निगाहें बिरानी !

ये दो पंक्तियाँ नरेन्द्र शर्मा के 'हंसमाला' संग्रह से हैं। और वीरेश्वरसिंह की  
ये पंक्तियाँ—

ज़रा अब घर की सीधी बात कह दो !  
अभी बाकी है कितनी रात कह दो !

इन पंक्तियों में अधोलिखित दीर्घाक्षर ह्रस्व पढ़े जाते हैं। यह उर्दू की सुविधा तथा बँगला और मराठी का अक्षरालोडन वाला सौन्दर्य खड़ीबोली को प्राप्त न होने से उसे संस्कृत-परम्परा से चलना पड़ता है। फिर संस्कृत-शब्दों के उच्चारण भी हिन्दी में निश्चित नहीं—कभी 'अमृत' प्रथमाक्षर पर स्वराघात से पढ़ते हैं, कहीं अमृतकुंअर जैसे शब्दों में बिना आघात से। इसीलिए 'निराला' से 'कुकुरमुत्ता' में मुक्त छंद की और खड़ीबोली की (क्योंकि वह उर्दू की भाँति लचकीली नहीं) छीछालेदर-सी हुई है।

उदाहरणार्थ—तीर से खींचा धनुष में राम का  
काम का—

पड़ा कन्धे पर हूँ हल बलराम का  
सुबह का सूरज हूँ मैं ही  
चाँद मैं ही शाम का।  
मैं ही डाँडी से लगा पल्ला  
सारी दुनिया तोलती गल्ला  
मुझसे मूँछे, मुझसे कल्ला  
मेरे लल्लू, मेरे लल्ला।

'फ़ायलातुन फ़ायलातुन फ़ायलुन'—से शुरू कर बाद में यह गति बदलती चली जाती है। कहीं कवित्त के टुकड़े हैं, कहीं मात्रिक छन्द-जैसी गति है, कहीं चामर है, कहीं उर्दूवाला वजन। जहाँ नाम-संज्ञाएँ आती हैं वहाँ ये खींचाताना असह्य हो जाती हैं, जैसे—

मेरी सूरत के नमूने पीरामीड  
मेरा चेला था यूक्लीड  
रामेश्वर, मीनाक्षी, भुवनेश्वर,  
जगन्नाथ, जितने मंदिर सुंदर,

निराला की ये कमजोरियाँ निरालोत्तर मुक्त छंद-लेखकों में चलती रहीं। लिखित कविता के चरणक, पठित कविता के चरणकों से आँके जाने लगे। उर्दू

मुक्तछंद अलग दिशा में चल रहा था; हिन्दी मुक्त छंद जैसे परम्परा से कटकर अपनी अलग धारा बनाने लगा। मगर निरे भावावेश से कुछ नहीं होता। सतर्कतापूर्वक इस छंद-नावीन्य को, छंद में नये प्रयोगों को ग्रहण करना चाहिए, यह बात तारसप्तक के कवियों के काल तक आकर मिलने लगी।

‘अज्ञेय’ के ‘इत्यलम्’ संग्रह में लोकगीतों की धुनों का असर परावर्ती छंदों में स्पष्ट है; जैसे ‘ओ पिया पानी बरसा’, ‘फूल काँचनार के, प्रतीक मेरे प्यार के’; ‘वह आयेगी—धारा आती जाती है; वह मेरी नस-नस की पहचानी है’ (‘आषाढस्य प्रथम दिवसे’) ! ‘अज्ञेय’ के मुक्त छंद पर अंग्रेजी के आधुनिक छंद-प्रयोगों का, विशेषतः इलियट की प्रलंबित, पुनरावृत्ति वाली टेकनीक का और लारेंस की भावावेशमय गद्यात्मक ध्वनि-चित्रण-पद्धति का बहुत सूक्ष्म पर गहरा प्रभाव है। परन्तु अज्ञेय के मुक्त छंद में सरसता न आ पाने का कारण उसमें नाद-माधुर्य की जो एक मूलभूत अंतर्धारा चाहिए, उसका अभाव है। छंद की गति भी सहसा कहीं-कहीं टूट जाती है, जैसे शरणार्थी में उनका यह छंद—

‘मानव की आँख’

कोटरों से गिलगिली धृणा यह भाँकती है ! — (४-४-४-४ कवित्त-जैसी यति)

मान लेते यह किसी शीत-रक्त, जड-दृष्टि — (वही)

जल-तलवासी तेंदुए के विषनेत्र हैं — (सहसा २ अक्षरों वाला अंत)

और तमजात सब जंतुओं से — (३ अक्षरों का अंत)

मानव का वैर है

क्योंकि यह सुत है प्रकाश का — (अक्षरों का अंत)

यदि इनमें न होता यह स्थिर तप्त स्पंदन तो ? और इस पंक्ति का तो कोई नियम ही नहीं। और ‘सावन-मेघ’ (तारसप्तक, पृष्ठ ७७) कविता में चौथी पंक्ति की गति पहली तीन से एकदम भिन्न है। अतः इस प्रकार यदि मुक्त छंद किसी-न-किसी अंतर्लय को भी न मानेगा, तो दूसरे भाषा-भाषी पाठकों के लिए यह कठिन हो जायगा कि वे उसे पढ़ें और उससे आनन्द उठा सकें।

गिरिजाकुमार माथुर ने इस दृष्टि से बहुत सफल प्रयोग किये हैं। उन्होंने सव्यं को तोड़कर ‘आज है केसर-रंग रंगे बन’ में प्रयुक्त किया। संगीत का प्रेम होने के कारण वे शब्दों के ध्वनि-चित्रों को खूब सज्जते हैं; इसीलिए नये शब्दोच्चारणों की अवतारणा भी करते हैं—सूनसान, माँदी, पिरामीड इत्यादि। परन्तु गिरिजाकुमार के अधिकांश मुक्तछंद एक योजनाबद्ध छंद-प्रयोग को लेकर चलते हैं। उनके पीछे ध्वनि-योजना (साउंड-पैटर्न) की भी भावना होती है, जैसे ‘तारसप्तक’ के ‘वक्तव्य’ में वे स्वयं कहते हैं—‘ध्वनि-विधान में मेरे प्रयोग मुख्यतः

स्वर-ध्वनियों के हैं। व्यंजन-ध्वनियों से उत्पादित संगीत को मैं कविता में संगीत नहीं मानता। प्रत्युत् रीतिकालीन रुढ़ि समझता हूँ। छायावादी कवियों में इसी कारण मैं कोई संगीत नहीं देखता। ‘...’ परन्तु इधर गिरिजाकुमार की कविता में गद्यमयता आती जा रही है, जैसे ‘एशिया का जागरण’ या ‘तीन जून’ इत्यादि प्रसंगनिष्ठ कविताओं में। मुश्किल यह है कि गिरिजाकुमार के जो कोमल गीत-प्रयोग प्रकाशित होने चाहिए, वे न छपकर, छपती हैं ‘ओ बेंड बजाने वालो, साथ-साथ निज कदम मिलाकर, चलो आज बाहर आओ सड़कों पर।’ जन-भाषा और जन-साहित्य के युग में कविता को भी जन-कवित्त बनाने के आग्रह में उसमें की संगीतात्मकता में, लयमयता में एक आवश्यक परिवर्तन तो आवेगा ही। परन्तु उसका अर्थ यह न हो जाय कि गद्य-पद्य की सीमा-रेखाएँ इतनी मिट जायँ कि काव्य और संगीत का जो सूक्ष्म और आंतरिक सुवृद्ध सम्बन्ध है, वही भंग हो जाय—जैसा कि केदारनाथ अग्रवाल, रांगेय राघव और शमशेर बहादुर की कुछ छंद-रचनाओं में व्यक्त होता है। उनके बारे में तो गियोम एपोलिनेयर की ये पंक्तियाँ आती हैं—

You read prospectuses and the catalogues and  
the placards shouting aloud :

Here's your poetry this morning.....

इधर एक बहुत मजेदार छोटी पुस्तक मेरे पढ़ने में आई—जाक मारितेन की ‘आर्ट ऐंड पोयट्री’ उसके अंतिम निबन्ध ‘फ्रीडम ऑफ़ साँग’ में यह कुछ रहस्यवादी सा समीक्षक पिकासो की चित्रकला, स्ट्राविन्स्की के संगीत और आर्ट्रे जीद के लेखन में तुलनाएँ देता हुआ बतलाता है कि मार्क्सवाद की ओर इन कलाकारों का झुकाव कहां तक उनकी कला के लिए हितावह हुआ है। लौरी की ‘डाइलेक्टिकल सिफनी’ की चर्चा तक पहुँचकर वह कहता है कि “प्रत्येक कलाकृति के तीन अंग होते हैं—शरीर, प्राण और आत्मा ! शरीर से तात्पर्य है भाषा, उसका रसज्ञ से संवाद, उस कला का टेक्नीक वाला अंग; प्राण से तात्पर्य है उसमें की सक्रिय भावना-कल्पना और आत्मा है काव्यत्व !” इस कसौटी से मार्क्सवादी कलाकारों ने अपने टेक्निकल (रूपात्मक) माध्यम में बहुत सतर्क और सचेष्ट प्रायोगिकता लाने का प्रयत्न चाहे किया हो, कला की पीठिका—उसमें की काव्यमयता न जाने क्यों सूखती जा रही है। सम्भव है, यह दोष मार्क्सवादी विचार-पद्धति का इतना न होकर, उसे कलाओं पर घटित करने वाले हमारे प्रयोग-बीरों की अक्षमता का हो।

मुक्तिबोध और शमशेरबहादुर के उदाहरण इस दृष्टि से चिन्त्य हैं। अपनी एक नयी कविता ‘विहान’ में, जिसे वह एक ‘लिरिक ड्रामा’ कहकर संबोधित करते हैं, शमशेर लिखते हैं—

वह  
आती है  
कछनी कसे  
वीरबाला:  
अंग  
हार हसली  
करधनी  
कड़ों-छड़ों में फँसे ।

इसे रूढ़ कवि यों लिखते—

वह आती है कछनी कसे वीरबाला [१४ अक्षर, २२ मात्रा]

अंग हार हँसली करधनी कड़ों-छड़ों में फँसे । [१८ अक्षर, २६ मात्रा]

किसी भी तरह इन दो पंक्तियों में हिन्दी की दृष्टि से ध्वनि-साम्य नहीं, सिवा 'कसे', 'फँसे' के ! शमशेर बहादुर उर्दू के 'बज़न' से प्रभावित हैं—परन्तु बीच-बीच में निराला के कवित—मुक्त छंद को लिखे जाते हैं। परिणाम—एक अराजक रचना ।

आगे चलकर तो और भी संज्ञा है जब माक्सिस्ट सिपाही बिल्कुल गैद्यप्राय बोलने लगता है । और समस्त नर-नारी जन-मन—'ॐ जयशंकर...' वाली आरती के स्वरों में 'गीत' गाते हैं । स्पष्ट है कि शमशेर ने 'गीत' शब्द का प्रयोग बहुत ही लचीले ढंग से किया है । मुक्तिबोध तो और भी विचित्र ढंग से बेचारे छंद को मरोड़ते हैं । असल में हिन्दी के नये कवि अंग्रेज़ी और उर्दू की नयी बंदिश से अत्यधिक प्रभावित जान पड़ते हैं । ये पंक्तियाँ देखिये—

वीरेश्वरसिंह की रचना है । 'सुबह किसकी है, शाम कह दो ! छुटी क्योंकिर अयोध्या, राम कह दो !'

तुकों के मामले में कुछ नयापन (आँडन के ढंग पर) भारतभूषण अप्रवाल और मैने लाने का प्रयत्न किया है । क्योंकि मैं मराठी कविता का अध्ययन करता रहा, और प्राचीन मराठी कविता में तुकों का चमत्कार काफ़ी है । मैने सानेट भी कई प्रकार के लिखे हैं । बालकृष्ण राय ने हिन्दी में सर्वप्रथम सानेट लिखे । बाद में त्रिलोचन आदि कई कवियों ने इस दिशा में सफल प्रयोग किये हैं । मुक्तिबोध की बेतुकी रचना में गति भी कई बार टूटती है ।

कर सको घृणा क्या झूतना रखते हो अखंड तुम प्रेम ?

जितनी अखंड हो सके घृणा उतना प्रचंड रखते क्या जीवन का व्रत नेम ?

दूसरी पंक्ति के अंत में गति कैसे टूट जाती है ! प्रश्न यह है कि यदि गति या

गीत तोड़ना भी हो तो उसके पीछे कोई कारण, कोई स्पष्टीकरण तो होना ही चाहिए।

अंततः मुझे निवेदन इतना ही करना है कि मुक्त छन्द का प्रयोग हिंदी में अभी बहुत एकरस और अराजकतापूर्ण चल रहा है। उसे संयत, समृद्ध और सजीव बनाने की ओर हम आधुनिक कवि अधिक विवेक से जुटें। हमें यह सबसे पहले देखना है कि मुक्त छन्द विषयानुसारी हो। आशय ही अभिव्यक्ति का निर्णायक बने। हम निरे 'फार्म' के पुजारी, रवीन्द्रनाथ जिन्हें 'रूप-लक्ष्मी' कहते थे, वही न बनकर रह जायें।

फरनांडू ग्रेथ ने अपने एक फ्रेंच लेख में १९४६ में कहा था कि "कवि प्रास-युक्त, तुकान्त रचना की ओर यों झुकते हैं, ज्यों नदियाँ समुद्र की ओर जाती हैं। परन्तु ऐसा साक्ष्य कामेतिहास में सर्वत्र नहीं पाया जाता..." मे स्वयं मुक्त छन्द का स्वच्छन्द प्रयोग करता था, पर साथ ही कहता था कि 'तुकान्त रचना कभी नहीं मरेगी'।"<sup>१</sup>

---

१. मूल फ्रेंच यों है : La Poésie va au vers comul la rivière suit sa pente. On est conjus d'aivir à exprimer, bien mieux, à défendre de telles évidences... Orce" dernier admethait si bien le vers libre qu'il l'employait courament lui-même; mais il avait affirmé : "onne tuera pas la vers régulier."



तीसरा भाग

आधुनिक गद्य

## हिन्दी गद्य की कुछ आवश्यकताएँ

एक हिन्दी-प्रेमी और हिन्दी-सेवी के नाते मैं कुछ बातें पाठक, लेखक, सम्पादक और प्रकाशकों की सेवा में रखना चाहता हूँ। हिन्दी साहित्य में इधर पत्र-पत्रिकाओं की संख्या आये दिन बढ़ रही है, प्रकाशन भी विपुल मात्रा में हो रहा है, और हिन्दी सीखने वालों की संख्या भी बढ़ती जा रही है; ऐसी दशा में मेरे सुभाव साहित्य के निर्माणात्मक पक्ष को बल प्रदान करेंगे ऐसी आशा है। अंग्रेजी के माध्यम से पश्चिमी-साहित्य और उत्तर भारत की सभी प्रमुख भाषाओं के साहित्य के एक तुलनात्मक अध्ययन करने वाले के नाते मुझे हिन्दी गद्य में जिन अंगों के साहित्य की कमी जान पड़ती है; वे सब अभाव पहले व्यक्त करता हूँ, और साथ ही उन्हें दूर करने के लिए साहित्य प्रक्रिया में लेखक से पाठक तक सभी पक्षों की चर्चा भी मैं इस छोटे लेख द्वारा करूँगा।

गद्य के साधारणतः—(१) गम्भीर और (२) ललित—ऐसे विभाग, कल्पित करने पर उनके अन्तर्गत निम्न साहित्य-प्रकार आ जाते हैं—

- (१) गम्भीर गद्य—
- १—कोष-साहित्य;
  - २—यात्रा-साहित्य;
  - ३—वैज्ञानिक साहित्य;
  - ४—बाल-साहित्य;
  - ५—महिलोपयोगी साहित्य;
  - ६—निबन्ध;
  - ७—आलोचना, भाषाविज्ञान, व्याकरण;
  - ८—ऐतिहासिक गवेषणा;
  - ९—कला सिद्धान्त और ध्यावहारिक पक्ष;
  - १०—संदर्भ-ग्रन्थ;
  - ११—पत्र-साहित्य; और
  - १२—जीवनी।
- (२) ललित साहित्य—
- १—कथा आख्यायिका;
  - २—उपन्यास;
  - ३—नाटक;

४—हास्य-व्यंग;

५—ललित निबन्ध; और

६—मनोरंजक-पुस्तकें ।

मैंने इस तालिका में समाचारपत्र साहित्य को इसलिये छोड़ दिया है कि वह अपेक्षाकृत कम स्थायी होता है; यद्यपि लोक-रुचि-निर्माण में उसका बहुत बड़ा हाथ है । मैं यहाँ ललित गद्य की चर्चा कम करके उपयोगी गद्य-साहित्य पर अधिक कहना चाहता हूँ ।

### कोष-साहित्य और संदर्भ-ग्रन्थ

वर्ष का विषय है कि इस और अब हिन्दी के विद्वानों का ध्यान जाने लगा है । जहाँ तक हिन्दी से हिन्दी शब्द कोष का सम्बन्ध है शब्द-सागर के बाद कोई बड़ा कार्य इस दिशा में कम हुआ है । इधर शब्द-सागर जब से अप्राप्य हो गया है, गुटका कोष से काम चलाया जाता है । परन्तु मुहावरा कोष, ब्रजभाषा कोष, उर्दू-हिन्दी कोष, और अंग्रेजी के दो-चार कामचलाऊ कोषों के अलावा, कोई सर्वव्यवहारोपयोगी कोष हिन्दी में बहुत कम हैं । क्या हमें अब भारत की प्रत्येक भाषा के नागरी अक्षरों में हिन्दी में अर्थ देनेवाले कोष नहीं छापने चाहिएँ ? तमिल-अंग्रेजी लेक्सिकन है; परन्तु यदि किसी भी दक्षिणी भाषा को सीखना हो तो हिन्दी में, हिन्दी माध्यम द्वारा न 'शिक्षक' जैसी छोटी पुस्तकें मिलेंगी, न कोष । कन्नड़, मलयालम, तमिल, तेलुगू की टाइप की बात कठिनाई के कारण छोड़ भी दें, फिर भी बँगला, मराठी, गुजराती जो कि नागरी से इतनी निकट हैं—उन भाषाओं के हिन्दी में कोष चाहिएँ । और तो और संस्कृत के प्रामाणिक कोषों के लिए मोनियेर विलियम या आपटे या जर्मन कोषकारों को टटोलना पड़ता है, संस्कृत-हिन्दी का एक वृहत्कोष चाहिए । वैसे ही पाली, अपभ्रंश अर्धमागधी, अवधी, राजस्थानी, पंजाबी, मैथिली, सिंधी, नेपाली, गुरुखाली, असमिया, उरिया भाषाओं और बोलियों के हिन्दी में कोष आवश्यक हैं । फिर भारत के पड़ोसी देश तिब्बत, चीन, बर्मा, थाइलैंड, अफगानिस्तान, लंका इत्यादि की भाषाओं के कोष हिन्दी में छपने चाहियें । यह नहीं कि खोजने पर हिन्दी में हर भाषाओं के विद्वान् नहीं मिलेंगे; विदेशी भाषाओं के भी अच्छे ज्ञाता हमारे देश में हैं । ऐसी अवस्था में उनके ज्ञान का उपयोग अंग्रेजी को मिले और हिन्दी को नहीं, यह कुछ ठीक नहीं ।

यह बात तो केवल भाषा सीखने-सिखलाने वाले कोषों की हुई । परन्तु उससे आगे चलकर विशेष दृष्टि से तैयार किये हुए कोष हिन्दी में होने चाहिएँ । उदाहरण के तौर पर मैं मराठी के चार कोषों की बात कहता हूँ—एक तो है, व्युत्पत्ति-कोष (जिसमें प्रत्येक शब्द का मूलधार खोजकर बताया गया है); दूसरा, प्राचीन चरित्र-कोष (कॉसेल की क्लासिकल डिक्शनरी की तरह)—इसमें सब पौराणिक ऐतिहासिक

नामों की संक्षिप्त कथाएँ और संदर्भ मिलेंगे; तीसरा है व्यायाम-ज्ञानकोष—इसमें सब प्रकार के व्यायाम और शारीरिक शिक्षण सम्बन्धी बातों की विस्तृत चर्चा है; चौथा है, मानसशास्त्र-परिभाषा-कोष—इसमें मनोविज्ञान सम्बन्धी शब्दों की स-व्याख्या विवेचना है। हिन्दी भाषा को पुष्ट और सजीव बनाने में न केवल अंग्रेजी से संस्कृत के नये शब्द गढ़ने से काम चलेगा, वरन् देश के शब्द-भण्डार में जो लाखों शब्द गाँवों की बोलियों में, प्रांतीय देश-भाषाओं में छिपे पड़े हैं, उन्हें साहित्य में लाता होगा।

इन कोषों के अलावा इनसाइक्लोपीडिया इंडिका जैसी बृहत्तर रचना हिन्दी के विद्वानों द्वारा हो। महाराष्ट्र-ज्ञानकोष जैसे डॉ० केतकर और उनके साथियों ने बनाया; या उस्मानिया यूनीवर्सिटी में जैसा प्रयत्न उर्दू के एक बृहत्कोष का चल रहा था, वैसा हिन्दी में बृहत् ज्ञानकोष आवश्यक है। यदि कोई संस्था या शासन इसे आवश्यक द्रव्य दे तो मेरे जैसे परिश्रमी और लगन के १०-१२ व्यक्ति मिल जायेंगे जो जमकर १० वर्ष कार्य करें तो इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका के अनुवाद जैसी चीज अन्य कई सैकड़ों-हजारों विशेषज्ञों और लेखकों के सहारे संपादित कर सकते हैं। लखनऊ के विश्वभारती प्रकाशन ने 'बुक ऑफ़ नॉलेज' के ढंग पर प्रकाशन आरम्भ किया था। परन्तु आगे पता नहीं वह पूरा क्यों न हो सका? अंग्रेजी में 'इनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ एथिक्स एंड फ़िलासॉफी' जैसी अद्वितीय वस्तु है। भारत दार्शनिकों का देश होकर भी हमारे पास ऐसा प्रामाणिक दर्शन-बृहत्कोष नहीं। उसी प्रकार अंग्रेजी 'इण्डिया इअर बुक' 'हू एंड हू' के ढंग पर हिन्दी में राजकमल डिरेक्टरी निकली है, परन्तु उतनी सचित्र और सम्पूर्ण नहीं। व्यापारियों के, डाक्टरों के, विद्यार्थियों के, इंजीनियरों के उपयोग के संदर्भ ग्रन्थ छपने चाहिए। साहित्यिकों के परिचय के नाम पर बही आ-जाकर 'हिन्दी-सेवी संसार' अकेला है। ऐसी अनेकानेक 'डिरेक्टरीयों' की हिन्दी में आवश्यकता है।

#### यात्रासाहित्य, पत्र-साहित्य, जीवनी

हिन्दी में राहुल जी, डा० सत्यनारायण, देवेन्द्र सत्यार्थी, भवानीदयाल सन्यासी आदि के गिने-चुने अपवाद छोड़कर यात्रा-साहित्य जिस विशाल मात्रा में आवश्यक है, नहीं मिलता। यह नहीं कि हिन्दी-भाषाभाषी अनेक देशों की यात्रा न कर आये हों; गत महायुद्ध में ही कई व्यक्ति विदेशों में हो आये, हाल में कई लोग गये और जा रहे हैं। परन्तु जैसे के० पी० मेनन साहब की दिल्ली-चुकिंग डायरी अंग्रेजी में है, या डॉ० श्रीधराणी और कराका की अमराका, चीन आदि के सम्बन्ध में पुस्तकें अंग्रेजी में हैं; या जैसे मराठी में अनन्त काणेकर का पत्रात्मक यूरोप यात्रा-वृत्तान्त 'धुक्यातून लालता-ज्याकडे', या गुजराती में काका कालेलकर की कई यात्रा-पुस्तकें हैं जैसे हिमालय-दर्शन, या बंगला में 'रूसैर चीठी' (रवीन्द्रनाथ) और मानसरोवर पर तथा अन्य देशों पर

कई पुस्तकें हैं; हिन्दी में क्यों न ये सब 'अनूदित' हों या नई छपें ? अज्ञेय ने अपने दृढ़कालीन जीवन और यात्राओं के आधार पर दो पुस्तकें 'यायावर' और 'नीललोहित' (आसात्र) लिखी हैं जो प्रकाशन की प्रतीक्षा में हैं । परन्तु अन्य प्रवासी लेखक मनोरंजक रूप से क्यों नहीं साहित्य के इस विभाग को पुष्ट करते ?

पत्र-साहित्य का तो प्रायः अभाव-सा है । सुनते हैं कि पं० बनारसीदास जी चतुर्वेदी, पं० ब्रजमोहन व्यास आदि के पास बड़े-बड़े पत्र-संग्रह हैं, परन्तु पता नहीं वे मूल पत्र साहित्यिकों के, राजनैतिक कार्यकर्त्ताओं के, नेताओं के, इत्यादि सब पुस्तकाकार क्यों नहीं संगृहीत कर छापे जाते ? 'सरस्वती' में पहिले द्विवेदी जी के और इधर 'हंस' में प्रेमचन्द जी के पत्र अवश्य कुछ अंकों तक निकलते रहे; बाद में पुस्तकाकार उन्हें निकल जाना चाहिए था । परन्तु शायद अब टेलीफोन और टेलीग्राफ और टेलीविजन के युग में साहित्य का यह पक्ष भी बहुत दुर्बल बनता जा रहा है ।

जीवनी, आत्म-कथा, संस्मरण, इंटरव्यू (भेंट) इत्यादि का जितना विपुल साहित्य हिन्दी में होना चाहिए था उतना नहीं मिलता । जीवनियाँ हैं भी तो वही पुराने ढंग की जैसे बास्वेल के 'जॉनसन' के पहले अंग्रेजी में लिखी जाती थीं । विदेशी साहित्यकारों में लिटन स्ट्रैची, चेस्टरटन, फ्रैंक हैरिस, आंद्रे मोर्वा, एमिल लुडविग, राल्फ फाक्स, ए० जी० गार्डनर, आदि कई नाम गिनाये जा सकते हैं, जिन्होंने उत्तमोत्तम जीवनियाँ और संस्मरण-रेखाचित्र लिखे हैं । परन्तु हिन्दी में एक से एक बढ़कर नेता और साहित्यकार और कर्मठ व्यक्ति इस देश से उठते जा रहे हैं और संस्मरण के नाम पर केवल श्रद्धांजलियाँ या सबाष्पोच्छ्वास भावुक पंक्तियों के विशेष ऐसी बातें नहीं मिलती, जिन्हें लेने पढ़ने के लिये हिन्दी विदेशियों या अहिंदी भाषियों को सीखना पड़े ? भारतेन्दु, रत्नाकर, प्रसाद, महावीरप्रसाद जी द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल, मदनमोहन जी मालवीय, मोतीलाल नेहरू, चन्द्रशेखर आज़ाद, गणेश-शंकर विद्यार्थी, सुभद्राकुमारी चौहान, सरोजिनी नायडू यह सब हिन्दी प्रान्तों के रहने वाली कुछ बड़ी दिगंगत विभूतियों के नाम हैं जिनकी जीवनियाँ बहुत बड़ी, स्फूर्तिप्रद और मनोरंजक ढंग से लिखी जा सकती थीं और हैं । परन्तु फिर वही बात है कि इस दिशा में बहुत कम सोचा गया है । जीवित व्यक्तियों में कई प्रसिद्ध साहित्यिकों, राजनीतिज्ञों और अन्य कार्यकर्त्ताओं के विषय में बहुत कम जानकारी इस रूप में दी गई है ! जिन्होंने आत्मकथाएँ लिखी हैं—उन नेताओं को छोड़कर अन्यो के विषय में बहुत कम जीवनियाँ उपलब्ध हैं ? महादेवी या पंत या मैथिलीशरण गुप्त की कोई स्वतन्त्र जीवनी हिन्दी में छपी है ? या मानवेन्द्रनाथ राय, आचार्य कृपलानी, नरोद्भदेव, राजाजी, पुरुषोत्तमदास टंडन आदि की जीवनियाँ, प्रामाणिक, विस्तृत, बड़ी, मनोरंजक कहीं हिन्दी में उपलब्ध हैं ? जो हाल जीवनों का है वही इंटरव्यू के

सम्बन्ध में है। इधर हमारे भिन्न पदमसिंह शर्मा 'कमलेश' ने साहित्यिकों की कुछ सुन्दर और उपादेय 'इण्टरव्यू' ली हैं। परन्तु उससे भी अधिक इस दिशा में बड़ी कार्यक्षेत्र बाकी है। हम आदर्श के तौर पर—विदेशी भाषाएँ दूर रखिये प्रान्तीय भाषाओं में ही लीलावती मुन्शी के 'रेखाचित्रों' (गुजराती), जुगतराम दवे की बालकों के 'गांधी जी' (इसका हिन्दी अनुवाद उपलब्ध है), और मराठी में 'अनौपचारिक मुलाखती' य० गो० जोशी की अपने दोस्त साहित्यिकों के व्यंग-चित्र आदि—सामने रख सकते हैं।

### वैज्ञानिक साहित्य और ऐतिहासिक गवेषणा

इतिहासकारों में तो गौरीशंकर हीराचन्द श्रोत्रा, जयचन्द्र विद्यालंकार, काशी-प्रसाद जायसवाल, राजकुमार गधुबीरसिंह इत्यादि व्यक्ति हिन्दी में हैं, फिर भी वैज्ञानिक साहित्य के क्षेत्र में बहुत ही कम नाम हम ले सकेंगे। रामदास गौड़ के 'विज्ञान', और 'भूगोल' और 'उद्यम' जैसी पत्रिकाओं को छोड़ दें तो इस दिशा में जितनी आवश्यकता है उतना और उसके अनुसार लेखन करने वाले बहुत कम मिलते हैं। कभी कोई पदार्थ-विज्ञान पर या गणित या ज्योतिष या एकाध दूसरी पशु-पक्षी-विज्ञान या वनस्पति-विज्ञान पर पुस्तक मिल जाती है, परन्तु अब उतने से क्या होता है? यन्त्र-शास्त्र, नृ-विकास-शास्त्र पर, अस्थिशास्त्र पर, वास्तुशास्त्र पर, युद्ध-विद्या पर, आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान पर उदाहरणार्थ ग्रन्थशास्त्र (एंडोक्राइनोलौजी) पर कितने ग्रन्थ हैं हिन्दी में? इन विज्ञानों के साथ ही साथ तुलनात्मक भाषा-विज्ञान, कृषि-प्राणी-शास्त्र, आहार-शास्त्र, समाज-विज्ञान, अर्थशास्त्र के कई आधुनिक ग्रंथ, भू-राजनीति (जिओपॉलिटिक्स) आदि आदि कई शास्त्रों और विज्ञानों पर हमें जैसे चाहिए वैसे ग्रन्थ हिन्दी में लिखने, लिखवाने और अनुवाद कराने होंगे। हिन्दी में संपादनकला पर; पाककला पर; घड़ीसाजी, बढ़ईगिरी और दर्जीगिरी पर; रंगाई, छपाई और चर्मकला पर, धुनाई, कताई, बुनाई (यान्त्रिक) आदि उपयोगी कलाओं पर पुस्तकें जितनी मात्रा में, जैसी आधुनिक रूप में आवश्यक हैं, बहुत कम मिलती हैं।

वस्तुतः यान्त्रिक-ज्ञान, ऐतिहासिक गवेषणा, शिक्षाशास्त्र, समाज-निर्माण सम्बन्धी आँकड़े जमा करने का विज्ञान (स्टैटिस्टिक्स) आदि संस्कृति की नव-रचना से निगडित बातों पर तो भारत भर में सभी प्रान्तीय भाषाओं में जो कुछ कार्य हो रहा है, उन सबका एकत्रित लेखा-जोखा रखने वाली संस्था चाहिए और उसका मासिक पत्र हिन्दी में निकलना चाहिए, जो इन अनुसन्धानों को प्रकाशित करे। आखिर हमारे उच्च विज्ञान के विद्यार्थी अपनी गवेषणाओं और रिसर्चों के लिए जर्मन-फ्रेंच-रूसी पढ़ते ही हैं न? वैसे हमारे रमण, कृष्णन् 'आभा', साहा, गुह, साहनी आदि की रिसर्चों का पता लगाने विदेशियों को भी भारतीय भाषा पढ़ने की बाध्यता

निर्माण करनी चाहिए। परन्तु यहाँ आकर पारिभाषिक शब्दावली पर सब बातें श्रृंखला होती हैं। और जब तक कोई विद्वान् उसका वैदिक संस्कृत पर्याय सिर खुजलाकर या 'डा० रघुवीर की धात्वानुगामी पद्धति' से खोजे, तब तक हमारी भाषा में 'बैंकोलाइट, प्लास्टिक, पेनिसिलिन, रैंडर, युरोनियम' जैसे सैंकड़ों-हज़ारों शब्द सहज-रूप से छनते हुए गाँव तक पहुँचते चले जा रहे हैं। इसे कहीं-न-कहीं रोकना होगा नहीं तो हिन्दी का इस गति से दस वर्ष में हिन्दुस्तानी तो दूर इंगलिस्तानी बन जाने का डर अवश्य है।

### बाल-साहित्य और महिलोपयोगी साहित्य

हिन्दी में अब इधर बहुत से प्रकाशक भाँति-भाँति का सचित्र बाल-साहित्य प्रकाशित कर रहे हैं। परन्तु बालकों के लिए जो साहित्य लिखा जाय वह मनोवैज्ञानिक आधार पर ही होना चाहिए। अमुक वय से अमुक वय तक अनुकरण, क्रीड़ा, विभूति-पूजा, भटकना, जिज्ञासा आदि वृत्तियों का धीमे-धीमे मानव-मन में विकास होता रहता है। उन्हीं के अनुसार बालकों की अपने विश्वास में लेकर उन्हें मोद-सहित बोध देने वाला साहित्य प्रचुर मात्रा में नहीं मिलता। वैसे कई पत्र बच्चों के, कुमारों और किशोरों के लिए निकल रहे हैं; परन्तु उन सब में या तो अधिकांश विदेशी पत्रों-चित्रों की-जूठन या फिर परी-कथाएँ ही अधिक होती हैं। आज देश में जो विचारों की योजनाबद्धता (रेजिमेंटेशन) युवकों में पाई जाती है, और जो सच्चे जनतन्त्र के लिए अत्यन्त अहितावह है, उसका मूल कारण यह भी है कि हमें बच्चों और कुमारों के लिए जैसा साहित्य निर्माण करना चाहिए और देना चाहिए, ये नहीं पा रहे हैं। परिणामतः कोमल वय में बालकों का ध्यान सहसा ऐसी चीजों की तरफ आकर्षित हो जाता है, जो भड़कीली और आक्रोशमयी होती हैं। चाहे राजनैतिक हों, चाहे सीनि-माई। जो कुछ लोग बालकों के लिए लिख भी रहे हैं वे अधिक गम्भीर, शिक्षाप्रधान और खूबो चाँजे लिख डालते हैं जब कि बालक का मन अधिक रंगीन, रसमयी चीजों की ओर आकर्षित होता रहता है।

जो स्थिति बालकों के साहित्य की है वही कम-अधिक प्रमाण में महिलाओं के लिए स्वतन्त्र साहित्य की है। हिन्दी के पाठक समाज की संख्या के अनुपात में सबल लेखकों की संख्या कम है, इसी कारण पत्र-पत्रिकाओं में अधिकतर उन्हीं नामों की पुनरावृत्ति-सी होता दिखाई देती है; और लेखिकाओं की संख्या तो और भी कम है। जो गिनी-चुनी लेखिकाएँ हैं भी वे विशेषतः गीत और पद्य की रचना करती हैं। परिणामतः पुरुष-लेखक नारी-समस्याओं को लेकर पुस्तकों का प्रणयन करते हैं जिनमें वह स्वभाविक यथार्थता आना सम्भव नहीं होता। महिलाओं के लिए सेक्सरिया-साहित्य-पुरस्कार हैं, वैसे ही सम्मेलन के साथ-साथ एक महिलाओं का विभाग भी

होना चाहिए। अब भारत के इस जागृति-काल में इस प्रकार अर्द्धांग की उपेक्षा साहित्य और संस्कृति के विकास में बड़ी बाधा होगी। इस प्रकार महिलाओं के लिए महिलाओं द्वारा लिखित, महिला-समस्याओं पर बहुत-सा साहित्य, ऊँचा, सबल, उत्तम साहित्य आवश्यक है।

### निबन्ध, भाषाशास्त्र, कलालोचन

आचार्य द्विवेदी और रामचन्द्र शुक्ल के पश्चात् इधर हिन्दी का निबन्ध-क्षेत्र बहुत घुना हो गया है। अँगुली पर गिने जाने योग्य शैलीकार गद्य-लेखक हैं। वैसे पत्रकार तो बहुत से हैं। अहिन्दी-भाषियों को हिन्दी सीखने में, जो कठिनाई व्याकरण के लिंग-भेद आदि के कारण होती है उसे सुलझाने वाली पुस्तकों स्टैंडर्ड व्याकरण, भाषा-परिचय-ग्रन्थ, पिंगल-अलंकार पर संशोधित नये उदाहरणों सहित ग्रन्थ; तथा ललित-कलाओं पर कई ग्रन्थों की बड़ी आवश्यकता है। काव्यशास्त्र-विनोद में यदि धीमानों का कालयापन होता है, तो उसमें अभिरुचि का संस्करण भी एक बड़ी आवश्यकता है। वह उपयुक्त पुस्तकों के बिना सम्भव नहीं। नृत्य-शिल्प-भास्कर्य, स्थापत्य, चित्रकला आदि पर अभी कई पुस्तकों की आवश्यकता है; संगीत और वादन पर अपेक्षित अन्य कलाओं से अधिक पुस्तकें हिन्दी में हैं। और इस सारे उपयोगी लेखन के मूल में परिभाषा-निर्माण एक बहुत आवश्यक और शीघ्राविशील किया जाने योग्य कार्य है।

हिन्दी भाषा और साहित्य की श्री-समृद्धि इन्हीं सब विभागों में अधिकाधिक अध्ययनपूर्ण, सुबोध जनता तक पहुँचने वाली सरल साधिकार ग्रन्थ-रचना से ही हो सकेगी। इस ओर सभी लेखकों और साहित्य-संस्थाओं का ध्यान में आकर्षित करना चाहता हूँ। भावक, कवि और कहानी-लेखक तो बहुत हैं; परन्तु इन बौद्धिक विभागों में परिश्रमपूर्वक जी-जान से जुट जाने वाले कई लेखकों और प्रकाशकों की आवश्यकता है। यह सब किये बिना, यह सब नींव बनाने का और दागवेल डालने का कार्य किये बिना, भवन-निर्माण की केवल शाब्दिक योजनाएँ बनाना या सपने देखना हवा-महल की-सी बात है। आशा है, मेरे इस लेख से हिन्दी के गद्य को अधिक संप्राप्त, पुष्ट विचारपूर्ण सर्वांगसमृद्ध बनाने की प्रेरणा कुछ उस दिशा में सोचने वालों को मिलेगी और वे अपनी राह की बाधाओं की और विस्तृत चर्चा पत्र-पत्रिकाओं में अथवा पत्र-व्यवहार द्वारा करेंगे।



## नाट और आधुनिक समस्याएँ

कुछ आलोचक समझते हैं कि प्राचीन और नवीन नाटक में कोई मौलिक दृष्टिकोण का अन्तर नहीं है, केवल युगानुकूल शैली-परिवर्तन नवीन नाटकों में हुआ है। यानी जैसे पुराने जमाने में लम्बे-लम्बे चोगे पहिने जाते थे, सो अब उनके बजाय छोटे कोट और कपड़े आ गये हैं। उसी प्रकार केवल शैली का अन्तर नये नाटकों में व्यक्त हुआ है। परन्तु यह बात सही नहीं। प्राचीन और नवीन नाटकों में मौलिक भेद नाटककार के दृष्टिकोण, दर्शकों की अभिरुचि तथा रंगमंच और अभिनेताओं के नये रूपों के कारण अवश्यम्भावी रूप से घटित हुआ है। इस अन्तर को अधिक स्पष्टता से समझने के लिए कुछ और निकट से उसका अध्ययन आवश्यक है।

प्राचीन नाटककार मुख्यतः कवि थे। उनकी जीवन और जगत को देखने की दृष्टि रसवादी व्यक्ति जैसी थी। इस कारण से संस्कृत नाटकों में तथ्यपूर्ण घटनाओं की स्पेक्षा काव्य-मय प्रसंगों की रचना अधिक है। चुने हुए प्रभावपूर्ण बोल-चाल के वाक्यों की अपेक्षा लेखकों का भाषा-ज्ञान बहुश्रुतत्व और साहित्य-समृद्धि जिसमें प्रकट हो, ऐसी समास-बहुल भाषा की योजना अधिक है। प्रकृति वर्णन भी नाटक की नाटकीयता को बढ़ाने की दृष्टि से नहीं, परन्तु लेखक की ललित काव्य-शक्ति को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त किया गया है। अकेले भास को छोड़कर अन्य कोई नाटककार प्राचीन काल में रंगमंच के विषय में जागरूक नहीं था।

परन्तु नवीन नाटकों में लेखक केवल कवि नहीं हैं। बल्कि कई नाटककार हैं जो केवल गद्य ही लिख सकते हैं। आदर्शवाद से यथार्थवाद की ओर नाटककारों की दृष्टि मुड़ते ही नाटक का कार्य-क्षेत्र बदल गया। अब नाटक इब्सन और शाँ के नाटकों की भाँति सामाजिक आलोचना का माध्यम बन गया और इसी कारण उसके पात्रों में मनोवैज्ञानिक स्वाभाविकता बढ़ गई। नवीन नाटककार कवि की भाँति रस-ग्राहक ही नहीं रहा परन्तु इसके सामाजिक अधिष्ठान का ज्ञाता और प्रवक्ता बन गया।

आधुनिक नाटक में व्यक्ति केवल धीरोदात्त, सर्व-गुण-सम्पन्न नायक या विभूति न रहकर सामाजिक व्यवस्था का एक अंश या प्रतीक बन गया। अर्थात् लेखक की आलोचना का लक्ष्य कुछ व्यक्ति उतना नहीं जितना उसके द्वारा ध्वनित समाज-व्यवस्था है। समाज में जो प्रतिष्ठा (रेसपेक्टिबिलिटी) नाम की एक झूठी चीज मूल्यवान मानी जाती है, इस पर सीधा आघात इब्सन ने और उसके शिष्य शाँ ने भी

किया। रिचनर्टन ने 'दि जार्जीयन लिटरेरी सोन' के तीसरे अध्याय में लिखा है, यद्यपि विक्टोरिया के काल में अंग्रेज उपन्यासकार और प्रचारकों ने समाज-व्यवस्था की आलोचना की थी फिर भी उन्होंने कभी भी जो अनुल्लेखनीय है, उसका उल्लेख नहीं किया। नवीन नाटक में न केवल उसका उल्लेख है परन्तु उस पर आग्रह भी है।

आधुनिक नाटककार ने अपने सिद्धान्तों के क्रान्तिकारी प्रचार के लिए नाटक को साधन बनाया तब सामाजिक ढोंग का, दम्भ-स्फोट का, प्रतिष्ठा का पर्दाफाश कर यह सिद्ध किया कि समाज का नग्न यथार्थ रूप कितना सड़ा-गला हुआ है, और जिस मध्य-वर्ग की नाँव पर यह समाज-नीति आश्रित है वह स्वयं कितनी खोखली, दीमक लगी हुई और भुसभुसी है। रिचनर्टन ने अपनी उपरोक्त पुस्तक में कहा है कि हमारे जीवन के सब आध्यात्मिक स्रोत विषाक्त हो गये हैं और हमारा टुटपूँजिया समाज ऐसी जमीन पर खड़ा है जो कि झूठ के मारक कीटाणुओं से परिग्राह्य है।

आधुनिक नाटककार की समाज-क्रान्ति करने की जो यह इच्छा हुई सो यह काम केवल व्याख्यान या उपदेश से नहीं हो सकता था। उसे मृतप्राय सुप्त समाज को झकझोरकर जगाने का काम करने के लिए व्यंग और विनोद का सहारा लेना पड़ा। डब्ल्यू० एस० गिलबर्ट ने हँसी-हँसी में कई संगीत-मय प्रहसनों में समाज की अनीतियों पर प्रहार किया और यह दिखाया कि ऊपर-ऊपर से बड़ी पवित्र और सभ्य बनने वाली सफेदपोशों की दुनिया भीतर से किबनी कुत्सित और विद्रुप है।

इसी कार्य के लिए आवश्यक था कि नाटककार का बौद्धिक आधार सुस्पष्ट हो और तर्क का उपयोग वह ऐसी खूबी या अनुभव से करे कि वह रूखा न जान पड़े। स्वयं इब्सन ने कहा है—“अब तक हम लोग गत शताब्दी की क्रान्तिकारी विचारों की जूठन पर जीते आये हैं और उनकी जुगाली करते-करते थक गये हैं। हमारे विचारों में अब नया आशय और नवीन स्पष्टीकरण आवश्यक है जिसके लिए एक ही बात अपेक्षित है और वह है जनसाधारण के मानसिक जगत में आमूल क्रान्ति उत्पन्न करना।”

आधुनिक नाटककार के अन्तरंग परिवर्तन के साथ-साथ बहिरंग परिवर्तन भी घटित हुआ—

(१) पुरानी अनेक दृश्यों और अंकों वाली रचना के स्थान पर एकांकी एक दृश्य वाली रचनाएँ प्रचलित हुईं।

(२) स्वगत या एक-मुखी भाषणों के लम्बे-लम्बे नाट्य-संकेतों से नाटक मुक्त हुआ।

(३) संभाषण मरल, स्वाभाविक और छोटे-छोटे वाक्यों से भरे प्रयुक्त होने लगे।

(४) चरित्रों की भाषा आलंकारिक न रह सकी, शब्दानुप्रास और श्लेषों के

चमत्कार की आतिशबाजी जो पहले सभी पात्रों के जुल से दिखाई जाती थी वह समाप्त होकर, वही चरित्र नाटकीय नहीं, बोल-चाल की भाषा बोलने लगे।

(५) यह बहिरंग परिवर्तन केवल फैशन के रूप में घटित नहीं हुए परन्तु नाटक के अन्तरंग परिवर्तन के साथ-साथ यह परिवर्तन भी अपरिहार्य रूप से प्रयोग में लाये गये। नाटक के विषय पौराणिक-ऐतिहासिक न रहकर अधिक सामाजिक होने लगे।

अन्य साहित्यिक प्रकारों की भांति नाटक भी जनता की अभिरुचि तथा समाज में प्रचलित चिन्ताधाराओं से अप्रभावित नहीं रह सकता। जैनविल वार्कर नामक प्रसिद्ध नाट्य-समीक्षक ने 'ए शानेल थियेटर' नामक पुस्तक में लिखा है कि "अब नाटककार नाटक को केवल क्षणिक मनोरंजन न समझे परन्तु एक ऐसी कला समझे जो कि अन्य ललित-कलाओं के समकक्ष लाई जा सके और उन्हीं के समक्ष अधिक गम्भीर अर्थ वाली बने।" लोकाभिरुचि में शामिल न होकर नवीन नाटककार उस अभिरुचि पर शासन करने वाला मार्ग-दर्शक बन रहा है। मनोरंजन का स्थान विचार-प्रक्षोभन ने लिया है। यहाँ आधुनिक नाटककार की प्रधान विगेषता तथा जिम्मेदारी है।

युगीन सत्य के ज्ञान और निरूपण के कारण आधुनिक नाटककार का दृष्टि-कोण शोकान्त, सुखान्त तथा प्रशान्त नाटकों के प्रति आमूल बदल गया है। चरित्रों के जैसे धीरोदात्त और खलनायक जैसे कटे-कटाये साँचे नहीं होते, उसी प्रकार से जीवन का कोई क्षण पूर्णतः एकरस नहीं होता। यों जीवन को एकरंग बनाना जीवन का यथार्थ चित्र न प्रस्तुत करके उसका निरा 'पोस्टर' या विज्ञापन-चित्र प्रस्तुत करने के समान है। बेस्ट के शब्दों में "अब कोई काव्यिक नाटक सुख-शून्य नहीं है, और कोई भी सुखान्त कथनाशून्य नहीं।"

नाटक किसी जमाने में राजा को खुश करने या पुरोहित के प्रचारार्थ रहा हो, अब मध्य-युग का अभिनेतावाला नाटक भी बदलकर अब नाटककार प्रधान नाटक बन गया है। सन् १९४७ के दिसम्बर में इन्दौर में नन्दलालपुरा थियेटर में आचार्य अत्रे की अध्यक्षता में एक मनोरंजक मराठी वाद-विवाद में मेने भाग लिया था। विषय था 'नाटक में नट की अपेक्षा नाटककार प्रधान है।' विषय का आरम्भ प्रो० बोरपावकर ने किया था। और विरोध में मेने कहा कि सर्वसाधारण प्रेक्षक जनता, कम से कम हमारे देश में अभी इतनी शिक्षित नहीं हुई कि वह नाटककार के नाम से प्रभावित होकर नाटक देखने जाय। वस्तुतः वह अभिनेता-अभिनेत्रियों के नाम से ही अधिक प्रभावित होती है। परन्तु यह स्थिति कोई बहुत शुभ नहीं है।

नवीन नाटकों में रुढ़ियों के प्रति विद्रोह है। नाटककार नाटक कम्पनी वाले

का भाड़े का नौकर नहीं होता। यद्यपि फिल्म-क्षेत्र में यही नियम चालू हैं। शॉ ने लिखा है कि—“I can no more write what they want than Joachim can put aside his fiddle and oblige a happy company of bean feasters with a marching tune on the German concertina. They must keep away from my plays. That is all.” यह शॉ कह सके क्योंकि इंग्लैण्ड में नाट्य-दर्शकों का दृष्टिकोण इतना प्रबुद्ध और जागरूक हो सका है। इसका अर्थ यह नहीं होता कि नाटककार नाटक न लिखकर प्रबन्ध या ‘थीसिस’ लिखते हैं। आधुनिक नाटककार के विरोह का एक रूप यह है कि प्रचलित रंगमंच की दासता उन्होंने स्वीकार नहीं की। नाटक में अमूक हो, अमूक न हो, यह नियन्त्रण अब नाटककार सहने के लिए राजी नहीं है। अर्न्स्ट टालर के एक नाटक में सर्कस की भाँति दृश्य हैं, तो दूसरे में जेल के अलग-अलग कमरों के कैदियों के संवाद से भरा एक पूरा अंक है। शॉ के एक नाटक में दन्तवैद्य के दवाखाने का दृश्य है तो सीमरसेट मौभ के एक नाटक का पहला अंक नाई की बाल काटने की दूकान में घटित होता है। स्पष्ट है कि रूढ़ संकेतों की इन नाटककारों ने अवहेलना की है। यथार्थता के चित्रण में इस प्रकार के बन्धन किसी प्रकार से सहायक नहीं होते।

आधुनिक नाटककार के दृष्टिकोण के कारण उसकी समीक्षाएँ भी बढ़ गई हैं। रासे और मोलिएर के आदर्शों को जैसे लिलो और लोसिंग ने कभी छोड़ दिया था, वैसे बेडे कादण्ड और पिरेंदेलो ने इब्सन और शॉ के आदर्शों से आगे कदम बढ़ाया है। चेखाव और स्ट्रिडवर्ग में आधुनिक नाटककार की विविध समस्याओं का सामाजिक और मनोवैज्ञानिक रूप अपने पूरे निखरे रूप में मिलता है। एरिक काहलेर ने स्ट्रिडवर्ग के बारे में लिखा है कि इब्सन के नाटकों में मानवी सदसद्विवेक (कॉन्शंस) का भूत जैसे सारे दृश्यों पर छाया रहता है। स्ट्रिडवर्ग के ‘चेंबर प्लेज’ में नैतिक समस्या समीक्षाएँ जैसे घुलकर एक स्थायी दलदल में फँस गई हैं। यह जीवन की अनिवार्यता व अपरिहार्यता की दलदल है। अब इलजाम या दोष किसी एक पर नहीं मढ़ सकते। व्यक्तियों के सम्बन्ध और चरित्र जैसे अपनी दयव्यक्तता खो बैठे हैं और एक सर्व-सामान्य मनोवैज्ञानिक ह्लासोन्मुखता के कोहरे के साथ बहते हैं। इस गर्त का केन्द्र भी कहीं मूर्त रूप से नहीं दिखाई देता, यानी वह सर्वव्याप्त है।” स्ट्रिडवर्ग के साथ-साथ ऐतिहासिक अनिवार्यता का एक नया नैश्चित्यवाद मानो आधुनिक नाटककार पर छाता जा रहा है। नये नाटक जीवन के चित्र-मात्र न रहकर जीवन की चौखट भी बनते जा रहे हैं। अनुभूति का विजडीकरण भी उनमें है, अस्तित्व की अन्ध अनिवार्यता भी है।

यहीं एक प्रश्न उठता है कि आधुनिक नाटककार जब युगीन समस्याओं से इतना आविष्ट हैं, तो उसका दृष्टिकोण अव्याकृत कैसे रह सकता है।

ऐतिहासिक नाटक के रूप में इतिहास के चित्रण पर सार्त्रे ने लिखा है कि—  
 “Authors too are historical. And that is precisely the reason why some of them want to escape from history by a leap into eternity” (p. 51) “The essential characterise of the 18th century writer was precisely on objective and subjective unclassing. (p. 75)”

—For whom does one write : What is Literature : Jean Paul Sartre.

[लेखक भी ऐतिहासिक होते हैं। यही कारण है कि उनमें से कई इतिहास से भागकर शाश्वत चिरंतन की शरण लेना चाहते हैं (पृ० ५१) १८वीं सदी के लेखक का विशेष गुण यह था कि उसमें आत्म-लक्षी तथा वस्तु-लक्षी वर्गहीनता थी (पृ० ७५) (किसके लिये लिखा जाता है : साहित्य क्या है ?)]

ऐतिहासिक उपयान्स की भाँति ऐतिहासिक नाटक में इतिहास और कला का सम्बन्ध भी एक विचारणीय प्रश्न है। इतिहास क्या था इसके सम्बन्ध में कोई निर्णीत साधन जहाँ पर उपलब्ध न हों, वहाँ यह प्रश्न और भी कठिन हो जाता है। जैसे विक्रमादित्य के चरित्र के विषय में विभिन्न परिकल्पनाएँ यथा उदयशंकर भट्ट, सात नाटककारों के एकांकी, गरुडध्वज आदि में की गई है। या चन्द्रगुप्त और चाणक्य का चित्रण ही ले लीजिये। मुद्राराक्षस के लेखक की दृष्टि, डी० एल० राय या प्रसाद की नहीं है और ‘शशिगुप्त’ के लेखक सेठ गोविन्ददास उसे भिन्नतः देखते हैं। एंटनी, क्लियोपाट्रा तथा सीजर का जो चित्र शेक्सपीयर ने दिया, उससे डायडन का चित्र भिन्न है और बर्नाड शॉ का तीसरा ही चित्र है। तो क्या इतिहास भी बदलता जाता है ? या नाटककार की कल्पना से पुनर्जीवित होता रहता है ?

ऐतिहासिक घटनाएँ, प्रसंगों का चुनाव, चरित्र-चित्रण और संवादों की भाषा के विषय में ऐकमत्य नहीं पाया जाता। हरिकृष्ण ‘प्रेमी’ ने इतिहास के जिस पहलू को उठाया, यानी हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य के आदर्श को, वह ‘नील देवी’ के लेखक भारतेन्दु के दृष्टिकोण से बहुत भिन्न है। और वर्तमान घटनाओं में जो ऐतिहासिक महत्व की घटनाएँ घटित होती हैं, उनके बारे में भी हमारे दृष्टिकोण कई बार भिन्न और परस्पर विरोधी होते हैं। प्रो० बोरगांवकर ने ‘हिटलर की मृत्यु’ नामक नाटक में तत्स्थ नाटककार की भाँति एक अहंता के पतन की दृजेडी लिखने का प्रयत्न किया है, (हिन्दी एकांकी संग्रह ‘वैन्दह अगस्त’ में) परन्तु यही मूल अंग्रेजी नाटक जब उन्होंने

छपाया था तब मैंने लेखक को जैसे पत्र में लिखा था वैसे क्या वर्तमान घटनाओं के प्रति ऐसा अनासक्त, निरपेक्ष भाव संभव है ? क्या वह बाँछनीय भी है ? 'हिटलर', 'नेपोलियन', 'तैमूर', 'औरंगजेब' शब्दों के साथ हमारी कुछ मनोवैज्ञानिक मान्यताएँ निश्चित प्राय होती हैं । शाँ के 'मैन ऑफ डेस्टिनी' में नेपोलियन के चित्र की भाँति लेखक एक नया ही लोक-विलक्षण दृष्टिकोण उपस्थित करने का अधिकार अवश्य रखता है । परन्तु यदि उसकी धारणा जनसाधारण की धारणा में विपरीत होगी तो रसापकर्षक वह अवश्य होगी, जैसे तेलुगु लेखक मुद्रकृष्ण के अशोकवन का रावण या भारत-भूषण अग्रवाल के 'पलायन' का बुद्ध । इन नये रूपों पर सहसा श्रद्धा इसलिए नहीं जमती कि वे हमारी धारणाओं के विपरीत हैं । पर रस-निर्माण में क्या ऐसी श्रद्धा आवश्यक है ?

आधुनिक नाटककार श्रद्धा के मूल पर आघात करता है । वह चरित्र को—चाहे ऐतिहासिक हो या वर्तमान—अपने दृष्टिकोण से नहीं; पर युग के सामाजिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखता है । सम्भव है उसे वैसे देखने में गलती हो । सम्भव है कि युग का दृष्टिकोण स्वयं बदल जाय । परन्तु उससे ऐतिहासिक घटनाओं का तथ्य तो नहीं बदलता ।

परस्पर-सम्बन्ध किसी तर्क-नियम से नहीं, परन्तु कला के अपने-तर्कों से नियंत्रित होंगे । इसलिए एरिक बेंटले ने अपने 'दी माडर्न थियेटर' ग्रन्थ में पृष्ठ १८ पर बिलकुल सही कहा है कि 'तर्क वाले द्विधाकरण से जो आधुनिक नाटकों के स्कूल और टाइप निर्णीत किये जाते हैं, वे गलत हैं ।' ये दो-दो हिस्से करने की बात बहुत चक्कर में डालने वाली है, जैसे—

जीवन का टुकड़ा	विरुद्ध	परम्परा
यथार्थवाद	विरुद्ध	कल्पना
सामाजिक	विरुद्ध	वैयक्तिक
राजनीतिक	विरुद्ध	धार्मिक
प्रचारात्मक	विरुद्ध	सौन्दर्य-प्रधान
गद्यात्मक	विरुद्ध	काव्यमय
पर-लक्षी	विरुद्ध	आत्म-लक्षी

इसी प्रकार की कटी-कटाई आलोचना वाले बाह्य-अन्तर कला की शब्दावली में कलाकार के दृष्टिकोण सीमिति करना चाहते हैं । परन्तु यह सोचने का सही तरीका नहीं है । जीवन तथा जीवन्त चिंतन यों दो-दो हिस्सों में बाँटा नहीं जा सकता । ये दो रुख इस प्रकार परस्पर-सम्बद्ध हैं कि इन्हें सिक्के के दो पहलू नहीं कहा जा सकता ।

ऐतिहासिक विषय हों चाहे वर्तमान नाटककार के दृष्टिकोण का निर्णय करने वाली वस्तु लेखक की अपने स्वयं के प्रति ईमानदारी; यानी 'अन्ततः' युग के और 'सामाजिक' के प्रति ईमानदारी ही है।

प्रत्यक्ष उदाहरण लेकर मैं अपनी बात स्पष्ट करूँ—मेरे लिख की एक एकांकी-जैसी नाटकनुमा रचना है। नाटक 'नुमा' भेने जान बूझकर कहा है, क्योंकि यद्यपि नाटक के कुछ उपकरण इसमें अपनाये गये हैं, फिर भी उसे नाटक नहीं कहा जा सकता, चल-चित्रपटों में जिस प्रकार एक दृश्य के बाद दूसरे आँखों के आगे से सरकते जाते हैं, वैसे जीवन के विविध अंगों और क्षेत्रों से चुने हुए कुछ दृश्य इसमें अंकित हैं, वह चुनाव किसी मतलब को लेकर हुआ है, वह मतलब, नाटककार के मन से आध्यात्मिक या कहेँ दार्शनिक है। नाटक यह साहित्य-प्रकार ऐसी दार्शनिक विवेचनाओं के लिए उपयुक्त माध्यम है अथवा नहीं, यह प्रश्न यद्यपि विचारणीय है, फिर भी प्राचीनकाल में 'मास' आदि के कई प्रकीर्ण 'क' नलिपटर्स' से तथा अति आधुनिकतम विदेशी नाट्य-परम्परा में उसी अति प्राचीन कला की पुनरावृत्ति (यथा ईशरबुड, ओकेसी, सिज आदि की पद्य-नाटिकाएँ) देखते हुए यह कहा जा सकता है कि मानव-प्रकृति के आन्तरिक संघर्षों और घात-प्रतिघातों का उत्तम अंकन मंच पर हो सकता है। परन्तु अब तक यह 'चरित्रचित्रण' नामक मोलमोल शब्द से परिभाषित क्रिया पात्रों के, घटनाओं के तथा किसी न किसी 'एक्शन' के द्वारा दरसाई जाती थी। अरस्तू का भी इसी 'क्रिया की अन्विति' पर बहुत जोर था। अब इधर हिन्दी में जो अनभिनीत और अनभिनेय-से कई नाटक, एकांकी आदि दिखाई पड़ रहे हैं उनमें क्रिया के बदले सम्भावणों से वह कार्य पूरा किया जाता है। कई तथाकथित दार्शनिकता और रहस्यवाद का पुट लिये नाटक या कई वैसे ही नाटकीय संवाद (अन्धकार, गृहत्याग और विक्रमादित्य के कई स्थल, मिसाल की तौर पर काफ़ी होंगे) देखते हुए आधुनिक हिन्दी एकांकी न पात्रों के विशेषीकरण की ओर ध्यान देता है, न क्रिया की किसी समस्यात्मकता की ओर—वह केवल संवादों की चतुराई और चतमकार से समाधान मान लेता है। इसे नाटक के क्षेत्र में छायावाद कह लीजिये।

पात्र चाहे वे किसी अनपढ़, अछूत, अशिक्षित वर्ग के हों, चाहे सुसंस्कृत कहलाने वाले ज्ञान दम्भ-गरिमावृत वर्ग के चाहे वह धनिया हों चाहे वह धन्ना सेठ, सब एक-सी काव्य-मयी वाणी में 'प्रसाद' जो की-सी संस्कृत-परिष्कृत भाषा में ऊँची से ऊँची फलासफी बघारने में, जीवन और प्रेम और सुख और आनन्द की व्याख्या और टीका में संलग्न रहते हैं। नाटक अब संवादों में आकर सिमिट गया है, और संवादों में जितनी अधिक अतीन्द्रिय, (एब्स्ट्रैक्ट) "दुरूह वाक्य रचना होती है, उतना ही बड़ा नाटककार माना जाता है। जिस भाषा का अपना रंगमंच नहीं उसमें अनिवार्य

रूप से नाटक की यही स्थिति होगी। सुविख्यात नाटककार इब्सेन के 'भूत' नाटक पर पश्चिम में जो आलोचना हुई थी उसमें क्लेमेण्ट स्काट का यह वाक्य बहुत प्रसिद्ध था, जिसकी बर्नार्ड शाँ ने बाद में अपने 'इब्सेनियम के लुब्बेलुदाव' में बहुत कटु आलोचना की—

“There was a time when brilliant French dramatists were considered too argumentative and blamed as being talkey-talkey. But ye gods ! only hear Ibsen talk. He never leaves off. It is only one incessant stream of talk and not very good talk either. For the most part, it is all dull, undramatic, uninteresting verbosity formless, objectless, pointless.”

मध्ययुगीन संच-परिस्थितियाँ हैं। और नाटककार देखता है आधुनिकतम विदेशी सदाक चित्रपट। दोनों के मिश्रण का परिणाम है ये 'रहस्यवादी-नुमा एकांकी, जिनमें घटना के नाम पर ऐसे असम्भव दृश्य होते हैं कि नदी में नाव चल रही है, चाँदनी छाई हुई है, या कुक्षेत्र पर युद्ध हो रहा है, या जैसे एक गरीब भिखारी बग्यो के नीचे कुचला जाता है, बग्यो उस पर से साफ निकल जाती है, अगर यह कहीं अभिनीत हुआ तो रोज़ का भिखारी सचमुच में संच पर मरना चाहिए (पुराने रोमन ग्लैडियेटर दृष्ट-युद्धों की तरह) या कि वह राममूर्ति की तरह पहलवान होना चाहिए जो पीठ या सीने पर से भरी हुई छोड़ा-गाड़ी का पहिया चलाने का चमत्कार दिखाये। भरत मुनि को बहुत अच्छा संच-ज्ञान (Stage-sense) रहा होगा, तभी उन्होंने ऐसे दृश्य जुगुप्साप्रव बतलाकर संच पर से बहिष्कृत कर दिये थे। आशय, हिन्दी नाटक में भी अन्य आधुनिक नाटकों की भाँति घटनाभाव है।

अब रहे संवाद, उनमें इस नाटक के प्रधान पात्र की आत्मा बीच-बीच में पथिक से बोलती है। 'मैरेलिटी प्लेज, (इंग्लैण्ड की रास लीलाओं) में काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि मूल रूप में आकर वादविवाद करते थे, मैंने इसी प्रकार के एक बहुत वैज्ञानिक आधुनिक संस्करण, एवरी नाव के एक रूसी एकांकी का अनुवाद 'आत्मा के संच पर' नाम से 'विशाल भारत' में नौ साल पहिले प्रकाशित कराया था, उसमें स्टेज को ही ज़िगर का आकार दिया गया था, और नायक के तीन रूप एक दूसरे से लड़ते दिखाये गये थे। यह ठीक है कि मनोवैज्ञानिक दृष्टियों का चित्रण 'स्वगत' द्वारा दिखाने की परिपाटी अब अस्वाभाविक और त्याज्य हो गई है। (देखिये, विशेष विवरण के लिए सेठ गोविन्ददास की पुस्तिकों 'नाट्यकला मीमांसा') यह भी ठीक है कि आत्मा के कई रूप नाटक में भिन्न-भिन्न नकाब पहिने दिखाने में कोई आपत्ति नहीं। परन्तु



जब मंच पर पात्र एक हो, तब आत्मा का उसी पात्र से बोलना कैसे दिखाया जायगा ? या तो एक कुशल नाना-पक्षी-बोली-विशारद की भाँति वही अभिनेता 'अलग-अलग आवाज' से बोले, या प्राचीन उपरूपकों की भाँति आकाशभाषित अथवा नेपथ्य-पाठ का आश्रय लिया जाय जैसे आजकल नृत्य-कार्यक्रमों में पर्दे के पीछे से 'अनाउन्स-मेन्टल' या परिचय-घोषणाएँ की जाती हैं ।

इस प्रकार से आधुनिक नाटककार का दृष्टिकोण और उसकी नयी समस्याएँ उसके टेक्नीक को भी प्रभावित करती हैं । इस दृष्टि से रंगमंच और बोलपट के बीच स्पर्धा की भी बात की जाती है । प्रोफेसर एलरडाहस निकोलने अपनी पुस्तक 'फिल्म और थियेटर' में कहा है कि—

“The film has such a hold over the world of reality, can achieve expression so vitally in terms of ordinary life, that the realistic play must surely come to seem trivial, false and inconsequential. The truth is, of course, that naturalism on the stage must always be limited and insincere... Pursuing this path, the theatre truly seems doomed to inevitable destruction.”

(फिल्म की यथार्थ-जगत् पर ऐसी पकड़ होती है और साधारण जीवन के नाते इतनी सजीव अभिव्यंजना वे कर सकती हैं कि वास्तववादी नाटक भी उनके आगे हलके, मिथ्या और प्रलापहीन जान पड़ेंगे । सत्य यह है कि प्रकृतिवाद रंगमंच पर साथ ही सीमित और अप्रमाणित-सा व्यक्त होगा... इस मार्ग से तो रंगमंच अवश्य नाश की ओर अग्रसर जान पड़ता है ।)

यह बात निर्विवाद है कि भारत में बोलपट के वर्तमान रूप से ऊबकर जनता अधिक उत्तम नाटक अवश्य देखना चाहती है । और यद्यपि रंगमंच के सभी अच्छे-अच्छे अभिनेता-अभिनेत्रियाँ रजत-पट पर चली गई हैं, फिर भी इस दिशा में बहुत कुछ करणीय है; जैसे पृथ्वीराज कपूर और बलराज साहनी ने हिन्दी में, या केशवराव दाते और रांगणेकर-अलतेकर ने मराठी में या अहीन चौधरी और शिशिर भादुरी ने बंगला में कर दिखाया है ।

## संस्कृत एकांकी के प्रकार

भरत के बाद नाट्य-शास्त्र विषयक ग्रन्थों में 'दशरूप' बहुत महत्त्व का ग्रन्थ है। इसका कर्ता विष्णुपुत्र धनंजय परमार राजा दूसरा वाक्पति मालव-पुंज (६४७ से ६६५ ईस्वी तक) के समय हुआ। इस दशरूप ग्रन्थ पर 'अवलोक' नाम की एक टीका है। उस टीका का कर्ता अपना नाम विष्णुपुत्र लाभ धनिक बताता है। या तो वह वही धनंजय है या उसका भाई है। प्रतापराष्ट्रीय यशोभूषण ग्रन्थ इसी आधार पर लिखा गया है। चन्द्रशेखर के पुत्र विश्वनाथ कविराज ने लिखा हुआ 'साहित्य दर्पण' (१५०० ईस्वी) नाटक के अंगों पर और प्रकाश डालने वाला एक ग्रन्थ है। इन सब ग्रन्थों से प्राचीन एकांकी के विषय में जो जानकारी मिलती है वह इस प्रकार से है।

नाटक के विभाजन को साधारणतया 'अंक' कहते थे। 'सट्टक' नाम के उपरूप में अंक को जवनिकान्तर संज्ञा दी गई है। भरत के अनुसार अंक यह रुढ़ि शब्द है, यानी उसकी उत्पत्ति उसे ज्ञात नहीं थी। दशरूप पर अवलोक टीका का कर्ता कहता है कि अंक शब्द का मूल अर्थ गर्भाशय है और जिसमें पात्रों के मानसिक भाव और अवस्थाएँ व्यक्त होकर उनका अलग-अलग रूपों में आविष्करण होता है और संविधानक का विकास होता है उस विकास को अंक कहते हैं। वैसे तो दो अंकों के बीच में जो दीर्घकाल बीतता है उसे सूचित करने वाले अंश को अर्थोपक्षेपक कहते हैं और वे पाँच प्रकार के थे—(१) विष्कम्भव, (२) चूलिका, (३) प्रवेशक, (४) अंकावतार और (५) अंकमुख। जैसे यूनानी नाटक में 'प्रोलोग' होता था संस्कृत नाटकों में 'अंकमुख' या 'अंकास्य' होता।

आधुनिक एकांकी के निकट आने वाले संस्कृत नाट्य-प्रकार हैं—व्यायोग, प्रहसन, भाण, वीथी, 'नाटी' या नाटिका, गोष्ठी, सट्टक, नाट्य रासक, प्रस्थान या प्रकाशिका, उल्लाटय, काव्य, प्रंखण, श्रीगादित, विलासिका, प्रकरणिका और हल्लीश। इनका विस्तार-वर्णन इस प्रकार है।

### व्यायोग

डिम की भाँति व्यायोग भी लौकिक नाट्य-प्रकार है। इसमें के पात्र एक दूसरे को परास्त करते हैं (यानी व्यायुज्यंते)। इसका कथानक प्रख्यात होता है। कथानक केवल एक दिन के समय में समाप्त होना चाहिये। इसमें युद्ध और कलह

बहुत बड़े प्रयोग पर दिखाये जाते हैं। इसमें स्त्रियों का 'पार्ट' नहीं होता। कौशिकी वृत्ति, गर्भ और ब्रह्मर्ष दो संधि और हास्य और शृंगार वर्ज्य किये जाते हैं। भरत और साहित्यदर्पणकार के मत से इसमें का नायक राजर्षि या देव होता है। दशरूपक-कार के मत से वह अनुपम होता है। इसमें एक ही अंक होता है और उसमें की नांदी चैतन्य अन्नोदय के समान नेपथ्य के पीछे से पड़ी जाती है। भास के नाटकों में व्यायोग के कई रूप दिखाई देते हैं। साहित्य-दर्पणकार ने 'सौगन्धि काहरण' व्यायोग का उदाहरण दिया है।

### प्रहसन

यह भी प्राचीन लौकिक नाटक है। इसका कथानक नाटककार के नित्य व्यवहार में से लिया जाता है। इसमें तदा लुब्धे, बदमाश, झूठे लोगों में प्रचलित कलह, विग्रह, बदमासी आदि के चित्र मुख्यतः चित्रित किये जाते हैं। वृत्तियों में कौशिकी और आरभटी दो वृत्तियाँ वर्ज्य की जाती हैं और संधियों में से मुख और निर्वहण दो ही संधियों का उपयोग होता है। इसमें का मुख्य रस हास्य है फिर भी इसमें बीच-बीच में लास्यांगों और वीथ्यगों का भी प्रयोग करते हैं, प्रहसन क दो प्रकार हैं—शुद्ध और संकीर्ण। दशरूपकार के अनुसार जिसमें वीथ्यग का प्रयोग होता है उसे संकीर्ण प्रहसन कहते हैं। दशरूपकार और साहित्यदर्पणकार ने प्रहसन का विकृत नाम का एक तीसरा प्रकार भी बताया है। उसमें हीजड़े और दासदासी अपनी शृंगार-चेष्टाएँ दिखलाते हैं। प्रसाद ने अपने श्रुवीचापिनी में इसीलिए हीजड़े-बौने आदि पात्र दिखलाये हैं। साहित्यदर्पणकार के अनुसार प्रहसन में सिर्फ एक अंक होना चाहिए और विष्कम्भक और प्रवेशक नहीं होने चाहिए। 'कंदर्पकेलि', शुद्ध प्रहसन का उदाहरण है और 'धूर्त चरित' और 'लटकमेलक' संकीर्ण के।

### भाग

भाग भी लौकिक उत्पत्ति वाला नाटक है। इसका कथानक स्वतन्त्र होता है और वृत्ति भारती होती है। कौशिकी इसमें वर्जित है। संधियों में से मुखसंधि और निर्वहणसंधि सिर्फ काम में लाते हैं। वीररस इसमें प्रधान होता है। शृंगार कभी-कभी सहयोगी रस की तरह आ सकता है। इस नाटक में एक ही अभिनेता होता है। वह नट निट हाता है। वह अपने कुछ अनुभव अकाशभाषित के रूप में बतलाता है। भाव भूक नाट्य या नृत्य से परिणत है, इस कारण उसमें लास्यांग का उपयोग करते हैं। साहित्यदर्पणकार ने 'लीलामधुकर' भाग का उदाहरण दिया है।

### वीथी

भाग की तरह ही है। इसमें अलग-अलग रस माला रूप में एकत्रित किये

जाते हैं। वीथी में कौणिकी वृत्ति का उपयोग होता है ऐसा दशरूपक और साहित्य-दर्पण कहते हैं भरतु भरत उसमें इस वृत्ति को वर्ज्य मानता है। मुखसंधि और निर्वहणसंधि इसमें होती है और सब अर्थ प्रकृतियाँ इसमें आती हैं। मुख्य रस शृंगार होता है। वीथी में दो नट होते हैं। डाक्टर भांडारकर ने प्रकाशित की हुई मालतीमाधव की टीका में किसी विख्यात ग्रन्थकार का आधार देकर जो कहा गया है कि इसमें उत्तम, मध्यम और अधम ऐसे तीन नट होते हैं वह ग्रन्थकार भरत ही है ऐसा कहा गया है। साहित्यदर्पण में वह भरत नहीं अपितु कोई दूसरा ग्रन्थकार है ऐसा ध्वनित किया है। 'मालविका' वीथी का उदाहरण कहा गया है।

#### नाटिका

भरताचार्य ने 'नाटी' नाम का एक प्रकार बताया है। नाटिका, नाटक और प्रकरण का मिश्रण होता है। इसका कथामय कवि-कल्पित होता है। इसकी वृत्ति कौशिकी है और सन्धियों में से विमर्श का उपयोग इसमें नहीं करते। इसका मुख्य रस शृंगार है। इसका नायक पौराणिक कथा में से लिया हुआ कोई राजा होता है। उसमें की नायिका अन्तःपुरवासिनी, नृत्यगीत में अपना समय बिताने वाली राज-कन्या होती है। इसमें एक से अधिक अंक हो सकते हैं। नाटिका का नाम नायिका के नाम पर दिया जाता है, जैसे 'रत्नावली'। बालरामायण में 'नाटिका' का अर्थ 'विदूषकी' दिया गया है।

#### गोष्ठी

इस एकांकी में हलके दर्जे के नौ या दस पुरुष और पाँच या छः स्त्रियाँ दिखाई देती हैं। इनमें कौशिकी वृत्ति होती है और सन्धियों में से गर्भ और विमर्शवर्ज्य होते हैं। 'रत्नमदनिका' इसका उदाहरण है।

#### सट्टक

प्राकृत में लिखी हुई इस नाटिका में प्रवेशक और विष्कम्भक नहीं होते। इसमें के अंक को अंक न कहकर जबनिकान्तर कहते हैं चोटक की तरह से सट्टक भी एक प्रकार का नृत्य है। राजशेखर की 'कर्पूरमंजरी' इसका उदाहरण है।

#### नाट्य-रासक

नाट्य-रासक बहुता लिलयस्थितिपूर्ण एकांकी है। इसमें नायक उवात्त और उपनायक पीठमर्द होता है। नायिका वासकीसज्या होती है। मुख्य रस हास्य और बीच में शृंगार भी मिला दिया जाता है। अलग-अलग लास्यांगों का भी इसमें उपयोग किया जाता है। मुख और निर्वहणसन्धियुक्त सट्टक को नर्मवती, और इन दोनों के साथ-साथ गर्भ और विमर्श सन्धियुक्त नाटिका को 'विलासवती' कहते हैं। यह एक प्रकार का मूकनाट्य और मूकनृत्य होता है।

## प्रस्थान

प्रस्थान या प्रस्थानक द्वयकी होता है। इसमें के पात्र दासदासी होते हैं और इसमें एक प्रकार के ताल, छंद और विनोद होते हैं। भारती और कौशिकी दोनों वृत्तियों का उपयोग करते हैं। बहुत सी मदिरा पीने के कारण नाटक में गुनाह कबूलवा लिया जाता है। 'शृंगारतिलक' इसका उदाहरण है। दैगोर ने इसे ही 'प्रकाशिका' कहा है।

## उल्लास्य

इस एकांकी का कथानक पुराणेतिहास से लिया जाता है। नायक उदात्त होता है। शिल्पक के विविध अंक उसमें प्रविष्ट किये जाते हैं। हास्य, शृंगार और करुण रस प्रधान हैं। उल्लास्य में युद्ध और अग्रगीतों का बड़ा उपयोग होता है। कथानक सम्बन्धी संवाद पदों के पीछे होते हैं। 'देवी महादेव' इस प्रकार के नाटक का उदाहरण है।

## कान्य

काव्य में भी एक अंक और बहुत सा हँसने का मसाला होता है। आरभटी वृत्तिवर्ज्य होती है। अलग-अलग तरह के गीत जैसे खंडमात्रा, द्विपदिका और यान्तिसिका उपयोग किया जाता है। इसमें एक सुन्दरी वेश्या आती है और बहुत से शृंगारपूर्ण भाषण होते हैं। 'यादचम्युदय' इसका उदाहरण कहा गया है। अवलोक टीका के अनुसार भी एक तरह का मूक नृत्य था।

## प्रेखण

इस एकांकी का नायक हीन जाति का होता है। नाटक में युद्ध और क्रोधपूर्ण भाषण होते हैं। विष्कम्भक, प्रवेशक और सूत्रधार नहीं होते। नांदी और प्ररोचना पदों के पीछे से कही जाती है। इसमें सब वृत्तियों का उपयोग हो सकता है। 'बाली-वध' इसका उदाहरण है।

## श्रीगदित

आख्यायिका पर आधारित यह एकांकी है। वृत्ति भारती है। इसमें 'श्री' शब्द बार-बार आता है इसलिए इसे श्रीगदित कहते हैं। 'सुभद्राहरण' इसका एक मात्र उदाहरण है।

## विल्लासिका

मुख-प्रतिमुख, निर्वहण सन्धियों वाला यह एकांकी है। शृंगार इसका प्रधान रस है। इसमें दस लास्यांगों का उपयोग होता है। इसमें का कार्य बहुत थोड़ा, मगर दिखावा या ठाठ (डेकार) बड़ा भारी होता है। हीन जाति का नायक, विदूषक, विद और पीठमर्द इसमें काम करते हैं। कुछ लोग इस नाट्य-प्रकार को 'लासिका' कहते

हैं। और कोई 'दुर्मल्लिका'। कोई उदाहरण नहीं दिया गया है।

प्रकरणिका

यह नाटिका का ही रूप है। परन्तु इसके नायक और नायिका सार्थवाह वगैरे के होते हैं।

हल्लीश

इस एकांकी में कैशिकी वृत्ति और प्रथम और अन्तिम सन्धि होती है। एक पुरुष और आठ-दस स्त्रियाँ इसमें होती हैं। इसकी भाषा ऊँची और रचना गीत-नृत्य प्रधान होती है। 'केलि खेतक' नामक नाटक इसका उदाहरण है।

इस प्राचीन परम्परा की तुलना यूनानी नाटक से करनी उचित होगी।

### बंगला रंगभूमि का प्रभाव

अन्य अन्तर्गत मंचों का विकास हिन्दी से पूर्व हुआ। १७५७ में कलकत्ता थियेटर बना, १७६५ में एक रूसी अभिनेता हिरोसिम लेबडेफ़्ट का देशी रंगमंच प्रख्यात था। दो लाख रुपयों का फंड जमा करके श्यामबाजार में नवीनचन्द्र बसु के मकान पर 'विद्या-सुन्दर' नाटक खेला गया। रामनारायण तर्करत्न और माइकेल मधुसूदनदत्त के कई नाटक बहुत ख्याति प्राप्त कर रहे थे। 'एकें की बोलें सभ्यता', 'शर्मिष्ठा', 'पद्मावती' आदि। गिरीशचंद्र घोष जैसे अभिनेता नाटककार के आगमन से १८७२ से जातीय नाट्यग्रह की स्थापना हुई और 'नीलदर्पण', जैसे राजनीतिक नाटक दिखाये जाने लगे। शेक्सपीयर के किंग लीयर से प्रभावित द्विजेन्द्रलाल राय का 'शाहजहाँ' बहुख्यात हुआ। डी० एल० राय की १४ शोकान्तिकाओं और ६ सुखान्तों में से प्रथम प्रकार का हिन्दी नाटकों पर गहरा प्रभाव पड़ा। यह प्रभाव बहुत अच्छा न था। श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र ने 'मुक्ति का रहस्य' नाटक की भूमिका में स्पष्टतः लिखा है, कला की चरम सोमा कल्पना के साथ नहीं, जीवन के साथ है। मैंने पुरानी परिपाटी को छोड़ने का प्रयत्न किया है। पुरानी परिपाटी से मेरा मतलब, डी० एल० राय की नाट्य-परिपाटी से है—जिसका प्रभाव हमारे नाटकों पर बहुत बुरा पड़ा है। आगे डी० एल० राय के दुर्गादास से गुलनार-दुर्गादास का संवाद उद्धृत कर जैसे शरद ने उपन्यास में वैसे राय नाटकों में मृत्यु-पूजा (नेक्रोफ़ेली) की अस्वस्थ प्रणाली कैसे चला दी यह स्पष्ट किया है। डी० एल० राय के पश्चात् रवीन्द्र की वाल्मीकि, चित्रा आदि काव्यमयी नाटिकाओं का प्रभाव हमारे यहाँ की पद्य-नाटिकाओं यथा उदयशंकर भट्ट के 'मत्स्यगंधा, राधा', आदि पर लक्षित है। उनसे आगे के और आधुनिक बंगला नाटकों का प्रभाव हिन्दी बोलपटों पर छनकर आया है।

### मराठी रंगमंच

वैसे विष्णुदास भावे का पहला नाटक १८४३ में खेला गया है। आगे किलो-स्कर नामक अभिनेता-नाटककार ने १८७५ से ८५ तक मराठी रंगभूमि को समृद्ध किया। देवल ने १८८५-९५ तक समाज-सुधार के 'शारदा' जैसे नाटक लिखकर तथा कोल्हटकर ने १८९५ से १९०५ तक उसमें अधिक साहित्यिकता उड़ेलकर मराठी नाट्यसाहित्य को उर्वरित किशा। खाडिलकर ने अगले दशक में राजनैतिक आशय वाले पौराणिक आख्यान चुनकर—जिनमें से 'कीचक वध' तो जब्त भी हुआ—तथा गडकरी ने उसमें भाषा सौन्दर्य तथा पारसी थियेट्रिकल कंपनियों वाली भड़कीली नाट्य-प्रसंगात्मकता लाकर केवल पाँच नाटकों से इधर कीर्ति ग्रहण की। वरोकर ने आधुनिक समस्याएँ जैसे बहेज, मजदूर-मालिक, सत्याग्रह, मिशनरी आदि उठाकर यद्यपि हल उतना अच्छा प्रस्तुत नहीं किया परन्तु कोल्हगडकरी वाली साहित्यिक ऊँचाई से

नाटक की गंगा को यथार्थवाद की भूमि पर उतरा। सन् १९३५ तक यही दशा रही, तब आचार्य अत्रे धूमकेतु की भाँति रंगमंच के आकाश में आये और अपने नौ-दस नाटकों द्वारा उन्होंने नाट्यक्षेत्र को प्रदीप्त कर दिया। रंगमंच के विशाल आडम्बर को उन्होंने इत्सन की भाँति फेंक दिया; नई-नई अब तक अछूत समस्याओं को उन्होंने छुआ—प्रौढ़ कुमारिका, कुमारी माता आदि। एक ओर हास्य का अखंड फव्वारा और व्यंग्य की अचूक चोट साथ में रहने से वे बहुत लोकप्रिय रहे। परन्तु धीरे-धीरे उन्होंने जिस स्त्री-स्वातन्त्र्य का झंडा ऊँचा किया था वह आर्य-स्त्रीत्व के प्राचीन आदर्शों की ओर झुकने लगा। नाटक की प्रगति अवरोध हुई। रांगणेकर, वर्तक, माधव मनोहर आदि कई नवीन प्रयोगशील नाटककार उसे पुनः युग के साथ चलाने में प्रयत्नशील हैं। मराठी नाटकों का हिन्दी पर प्रभाव नहीं के बराबर पड़ा क्योंकि सिवा केलकर के 'कृष्णार्जुन युद्ध' के हिन्दी में मराठी आधुनिक नाटकों के अनुवाद नहीं के बराबर हुए हैं। मराठी मंच का प्रभाव हिन्दी पर बोलपट के द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से आया। इधर दो-तीन मराठी नाटकों के हिन्दी अनुवाद हुए हैं; जैसे जुआ (मुक्ताबाई दीक्षित) भाभी; (रांगणेकर) एवं भूमिकन्या सीता (मामा वरेरकर)।

### हिन्दी

हिन्दी नाटकों का विकास १९०० विक्रमी से पूर्व पूर्व-भारतेन्दु काल, १९०१ से १९५० भारतेन्दु काल तथा वर्तमान काल में साहित्यिक धारा तथा केवल रंगमंच के नाटक; (जैसे कि प्रो० रामकुमार वर्मा ने अपने साहित्य-समालोचना में 'रंगमंच' अध्याय में विभाजन किया है) ये दो धाराएँ तथा एकांकी यह तीसरी उपशाखा—इस प्रकार से किया जाता है। हिन्दी का पहला नाटककार, बनारसीदास के १६६३ में लिखे समयसार से आरम्भ माने फिर भी भारतेन्दु काल तक अधिकांश नाटक केवल अनुवाद पर ही चलते थे। अनुवाद भी संस्कृत नाटकों के अधिक होते थे तथा 'प्रबोध-चन्द्रोदय', 'शकुन्तला' आदि। भारतेन्दु काल में बंगला नाटकों के अनुवाद हुए, मंच की सामाजिक उपयोगिता बढ़ी। स्वयम् भारतेन्दु ने 'भारत दुर्दशा', 'केलि कौतुकारूपम्' आदि नाटकों द्वारा खासे व्यंग्य किये। 'अंधेर नगरी' में चूरनवालों के लटकों में भारतेन्दु कहते हैं—

'चूरन नाटक वाले खाते। इसकी नकल पचाकर लाते।' और 'केलि कौतुकारूपम्' में कहते हैं—'जिसमें बड़े-बड़े लोगों की बड़ी-बड़ी लीलाएँ विशेषतः नगर-निवासियों के गुप्त चरित्र दिखलाए गये हैं।' श्रीनिवासदास, राधाचरण गोस्वामी, तोताराम, प्रतापनारायण मिश्र, राधाकृष्णदास आदि के नाटक लोक-जीवन से अधिक निकट होते थे। बाद के साहित्यिक नाटकों वाली भाषा की 'बनावट' उनमें नहीं आ पाई थी। डा० रामविलास शर्मा के 'भारतेन्दु-युग' में इसका विस्तृत विवेचन है।



अब नाटक की धारा साहित्यिक अधिक बनने लगी। रंगमंच पारसी थियेट्रिकल कम्पनी से हथिया लिया और राधेश्याम की 'मशरिक की हूर' उस पर चमकने लगी। यहाँ तक कि इन्दौर के साहित्य-सम्मेलन में पं० रामचन्द्र शुक्ल ने भाषण दिया उसमें नाटककारों में हथ, जेबा, बेताब, शबाब, आनन्द प्रसाद कपूर आदि के नाम उन्होंने गिनाये हैं (चिन्तामणि; दूसरा भाग; पृ० २५५)। साहित्यिक धारा में प्रायः प्रत्येक कवि ने नाटक लिखना अपना कर्तव्य मान लिया। (१) हरिऔध—स्विमणी-परिणय, प्रद्युम्न विजय का व्यायोग; (२) मैथिलीशरण गुप्त—चन्द्रहास; (३) पंत—ज्योत्स्ना; (४) प्रेमी—रक्षाबन्धन आदि कई नाटक; (५) मिलिन्द—प्रताप-प्रतिज्ञा; (६) माखनलाल चतुर्वेदी—कृष्णार्जुनयुद्ध आदि आदि। प्रसाद जी ने तो ४ ऐतिहासिक, ३ पौराणिक, २ भावात्मक ऐसे १३ नाटक लिखे, जिसमें एक और स्कंदगुप्त जैसे 'क्लासिकल' लम्बे नाटक हैं तो दूसरी ओर 'एक घूंट' जैसे एकांकी-प्राय भी। अब अंग्रेजी से अनुवाद शुरू हुए और प्रेमचन्द ने गैतसवर्दी के जस्टिस, स्ट्राइक, सिल्वरबाक्स के लक्ष्मीनारायण मिश्र ने इबान के और अन्य व्यक्तियों ने गेटे, शॉ, टॉर्सी, योबेव आदि के अनुवाद शुरू किये। एकांकी बढ़ने लगे। उग्र, लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविन्ददास और उदयशंकर भट्ट ने पुनः साहित्यिक शैली के नाटकों को समाज की विचारधारा से मिलाने का प्रयत्न किया। उग्र की छलछलाती भाषा, लक्ष्मीनारायण मिश्र का रूढ़िवाद, सेठ गोविन्ददास की अपनी कला के प्रति सत्कर्ष परिश्रम-प्रचुरता तथा उदयशंकर भट्ट की काव्यात्मकता आदि गुण मिलाकर अभी कोई एक उत्तम नाटककार हिन्दी में आना बाकी है।

एकांकी के क्षेत्र में रामकुमार बर्मा, भगवतीचरण वर्मा, भुवनेश्वरप्रसाद, उपेन्द्र नाथ 'अश्व', जगदीशचन्द्र माथुर और अन्य कई लेखकों ने कम-अधिक प्रमाण में ख्याति पाई। नाटकों में सामाजिक यथार्थवाद से भी अधिक समस्यामूलकता आने लगी। भुवनेश्वर ने 'कारवाँ' के प्रवेश में लिखा है—'स्टेज जीवन के लिए एक चुनौती है; इसी प्रकार कि प्रत्येक कला जीवन के विरुद्ध एक विकल विद्रोह है... भावुकता कलाकार के लिए विष है और हिन्दी कलाकार का भोजन।... एक समस्या का सुलभाना कई समस्याओं का सृजन करना है।... जनता यथार्थवाद से चिड़ती नहीं है वरन् भय खाती है। यथार्थवाद और आदर्शवाद का अंतर पाठक के मस्तिष्क में होता है, लेखक के नहीं। डॉ० रामकुमार ने परम्पराओं का निर्वाह एकांकी की सीमा में अच्छा किया है परन्तु वे उसमें नवीन जीवन फूँक न सके। एकांकी अब शिक्षालयों में उत्सव-प्रसंगों में खेले तो जाने लगे हैं परन्तु 'जन नाट्य संघ' ने जैसे सशक्त राजनैतिक प्रचार और सांस्कृतिक पुनर्स्थान का कार्य हाथ में लिया है, उसे उत्तम हिन्दी एकांकियों की आवश्यकता है। रेडियो वाले भी रेडियो-लिया फीचरों के लिए नये हिन्दी नाटककारों की

अधिक उत्तमोत्तम रचनाएँ चाहते हैं। यों, हिन्दी नाटक और मंच का भविष्य उज्ज्वल है। परन्तु नाटककारों को अधिक प्रगति प्राप्त करने की आवश्यकता है।

संक्षेप में, हिन्दी-नाटक-प्रगति के लिए निम्न माँगे तात्कालिक हैं—

(१) एक अखिल भारतीय हिन्दी रंगमंच की स्थापना। जिसकी शाखाएँ बम्बई, दिल्ली, प्रयाग, लखनऊ आदि में हों, जिस पर 'एमेच्योर' अपटु तथा पटु दोनों प्रकार के अभिनेताओं द्वारा नये नाटक खेले जायें।

(२) अभिनेताओं की शिक्षा के लिए नाट्य-शास्त्र-शिक्षा-केन्द्र खोले जायें।

(३) नाटककारों से सामयिक समस्याओं पर, सुरुचिपूर्ण नाटक लिखवाये जायें।

(४) अन्य प्रान्तीय नाटककारों और मंचों से सहयोग स्थापित किया जाय।

(५) नाट्यकला को सवाक् पटों के आक्रमण से बचाया जाय।

## भारतेन्दु के नाटकों में सामाजिक परिकल्पना

‘इतिवृत्तं हि नाट्यस्य शरीरं परिकल्पितम्’ (भरत—नाट्यशास्त्र १६—१)

“देअर इज बीहाइंड माय प्लेज ए थॉट-आउट सीशिश्रॉलॉजी द्विक्त मेक्स देम फ्रण्डामेंटली अनलाइक दोज बाई आर्थर्स टु हूम नॉलेज ऑफ़ सोसायटी मीन्स दंट पीज शुड नाट बी ईटन विद ए नाइफ़ ।”

—जार्ज बर्नार्ड शॉ—सिक्स्टीन सेल्फ़ स्केचेज; पृ० १०१

नाटककार सामाजिक परिस्थितियों से किस प्रकार प्रभावित होता है, यह नाटककार से अधिक आलोचक का विषय है। नाटककार का प्रथम सर्वश्रेष्ठ आलोचक उसका पाठक, प्रेक्षक अथवा श्रोतृसमुदाय है। इस प्रकार से साहित्य यदि जीवन की आलोचना हो, तो नाटक आलोचना की आलोचना है।

नाटक में कथावस्तु पौराणिक, ऐतिहासिक अथवा काल्पनिक होती है। सामाजिक परिकल्पना तीनों में अपने-अपने ढंग से की जाती है। यथार्थवादी नाटकों में भी यथार्थ नाटककार के मनोलोक से छनकर ही चित्रित होता है। अतः किसी भी नाटककार की सामाजिक परिकल्पना के सम्बन्ध में विचार करते समय, तत्कालीन समाज-दशा, सामाजिक रूढ़ियाँ और मान्यतायें; और उनके प्रति नाटककार की मानसिक प्रतिक्रिया और उनकी अभिव्यंजना के पश्चात् पाठक-दर्शक-श्रोता की प्रतिक्रिया का अध्ययन उपयोगी होगा।

भारतेन्दु अपने नाटकों की रचना सोद्देश्य करते थे, यह ‘नाटक’ अथवा दृश्य-काव्य नामक संवत् १९४० में लिखे निबन्ध में वे स्पष्टतः लिखते हैं—

‘अथ नवीन भेद’ के अन्तर्गत (१) समाज-संस्कार नाटकों में देश की कुरीतियों का दिखलाना मुख्य कर्तव्य कर्म है। यथा शिक्षा की उन्नति, विवाह-सम्बन्धी कुरीति-निवारण अथवा धर्म-सम्बन्धी अन्यान्य विषयों में संशोधन आदि। किसी प्राचीन कथा-भाग का इस बुद्धि से संगठन कि देश की उससे कुछ उन्नति हो, इसी प्रकार के अन्तर्गत है।

—भारतेन्दु नाटकावली, भाग २०, पृ० ४३०

और आगे चलकर उसी निबन्ध में ‘अन्य स्फुट विषय’ के अन्तर्गत—(२) ‘नाटक के परिणाम से दर्शक और पाठक कोई उत्तम शिक्षा अवश्य पावें।’

—पृ० ४६०

भारतेन्दु तत्कालीन समाज की रूढ़िवादिता और नाटक के हीन रूप से

क्षुब्ध थे। आजकल फिल्मों में कालिदास, मेघदूत, कादम्बरी के भ्रष्ट चित्रण (तथा अभिनीत होने वाले भद्दे अनुवाद-रूपान्तर) के प्रति इतने वर्ष पूर्व उन्होंने उसी 'नाटक' प्रबन्ध में लिखी आलोचना कितनी खरी उतरती है—

काशी में पारसी नाटक वालों ने नाचघर में शकुन्तला नाटक खेला और उसमें धीरोदात्त नायक दुष्यन्त खेमटेवालियों की तरह कमर पर हाथ रखकर मटक-मटककर नाचने और 'पतरी कमर बल खाय' यह गाने लगा तो डाक्टर थिबो, बाबू प्रमदादास मित्र प्रभृति विद्वान् यह कहकर उठ आये कि अब देखा नहीं जाता। ये लोग कालिदास के गले पर छुरी फेर रहे हैं। यही दशा बुरे अनुवादों की होती है।

—भा० ना०; भाग २, पृ० ४८०-४८१

प्रस्तुत लेख में भारतेन्दु के मौलिक नाटकों की ही चर्चा की जायगी। वैसे अनुवादार्थ जो नाटक उन्होंने चुने, उनके चुनाव में यही सोद्देश्यता वे अवश्य ध्यान में रखते थे, और अनुवाद में रूपान्तर करते समय वे तत्कालीन समाज-स्थिति पर व्यंग्य किये बिना नहीं छोड़ते थे। उदाहरणार्थ शेक्सपीयर के 'मर्चेंट ऑफ़ वेनिस' के अनुवाद 'दुर्लभ बन्धु' में जैनी शैलाक्ष के मुँह से आर्य और जैनी की तुलना कराते हैं—

“तो फिर जो तुम हम पर अत्याचार करोगे तो क्या हम बदला न लेंगे? यदि हम लोग बातों में तुम्हारे सदृश हैं तो इस बात में भी तुम्हारे तुल्य होंगे।” (वही; पृ० २२८) तथा “आप लोगों के पास कितने मोल लिये हुए दास और दासियाँ उपस्थित हैं, जिन्हें आप गधों, कुत्तों और खच्चरों की भाँति तुच्छ अवस्था में रखकर उनसे सेवा कराते हैं।”

—पृ० ३७

अनुवाद भी नाटककार किसी हेतु से ही तो करता है। भारतेन्दु के समय के समाज का दम्भ-विस्फोट भिन्न-भिन्न प्रकार से करना चाहते थे।

‘कलि कौतुकाव्यम्’ शीर्षक में कहा गया है—‘नाटक जिसमें बड़े-बड़े लोगों की बड़ी-बड़ी लीलायें विशेषतः नगर-निवासियों के गुप्त चरित्र दिखलाये गए हैं।’ उनके मौलिक नाटक दस जाने जाते हैं, जिनका विषयानुसार विभाजन सम्भवतः यों किया जा सकता है। एक अप्राप्य ‘प्रवास’ तथा अधूरा ‘सती-प्रताप’ छोड़ दें, तो बचे आठ नाटकों में से कथा-वस्तु के आधार के अनुसार निम्नलिखित—

पौराणिक—‘सत्य हरिश्चन्द्र’;

ऐतिहासिक—‘विषयविषमौषधम्’, ‘नील देवी’;

सामाजिक—‘भारत दुर्दशा’, ‘अन्धेर नगरी’, ‘प्रेमजोगिनी’, ‘वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति’; और

काल्पनिक—‘चन्द्रावली’ (‘विद्यासुन्दर’ पर बँगला नाटक की छाया होने से छोड़ दें)।

‘सत्य हरिश्चन्द्र’ उनका सर्वश्रेष्ठ मौलिक नाटक है। क्षेमीश्वर का ‘चण्ड कौशिक’ तथा रामचन्द्र का ‘सत्य हरिश्चन्द्र’ मूलाधार होने पर भी हरिश्चन्द्र ने इसमें अपनी मौलिकता दिखलाई है। इस नाटक में भी यत्र-तत्र तत्कालीन समाज पर छोटें आ ही गये हैं। यथा भारतेन्दु ग्रन्थावली पृ० २८५ पर पात्र हरिश्चन्द्र कहता है—

“अरे सुनो भाई सेठ, साहूकार, महाजन, दूकानदारो, हम किसी कारण से अपने को पाँच हजार मोहर पर बेचते हैं, किसी को लेना हो तो लो ! देखो, कोई दिन था, जब मनुष्य विक्रय को अनुचित जानकर हम दूसरों को दण्ड देते थे, पर आज वही कर्म हम आप करते हैं।”

और पृ० २८७ पर उपाध्याय और बटुक का संवाद—

उपा०—क्यों रे कौण्डिन्य, सच ही दासी बिकती है ?

बटुक—हाँ गुरु जी, क्या मैं भूठ कहूँगा ? आप ही देख लीजियेगा।

उपा०—तो चल, आगे-आगे भीड़ हटाता चल। देख, धारा-प्रवाह की भाँति कैसे सब कामकाजी लोग इधर से उधर फिर रहे हैं, भीड़ के मारे पैर धरने को जगह नहीं है, और मारे कोलाहल के कान नहीं दिया जाता।

वहीं होगी।

चित्र—यथार्थवादी  
है कि जिसे हिन्दी  
किया जा सकता है।  
निकले है और वे

राई पड़थीं पवित्र

हरकवौ लूटें।  
ते स्वर्ग में। रहै  
न करिये, मलमल

नागपुरी ढाँकें पहिरिये, अतरे फुलेल केसर परसादी बीड़ा चाभो, सब से सेवकी ल्यों, ऊपर से ऊ बात का सुख अलग है।”

पण्डे-पुजारियों के पाखण्ड, भारतेन्दु के नाटकों का प्रधान व्यंग लक्ष्य रहा है। उन्होंने यद्यपि कभी-कभी सुधारवाद का भी समर्थन किया है, यथा श्री गोस्वामी राधाचरण जी को लिखे एक पत्र में वे कहते हैं—

“आज के भारतेन्दु में प्रथम पत्र आर्यसमाजियों के विषय में जो है, उसमें

मेरी बुद्धि में यह बात आती है कि ब्राह्मणों को एक ही बेर छोड़ देने की अपेक्षा सुधारना उत्तम है ।”

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अजरत्नदाल पृ० ३२६

और उन्होंने लिखा है—

रोकि विलायत-गमन कूपमण्डूक बनायो ।

औरन को संसर्ग छुड़ाइ प्रचार घटायो ॥

बहु देवी देवतान भूत प्रेतादि पुजाई ।

ईश्वर सों सब विमुख कि ये हिन्दुन धबराई ॥

भारतेन्दु ने एक व्याख्यान में कहा था—

“कोई धर्म की आड़ में, कोई देस की चाल की आड़ में, कोई सुख की आड़ में छिपे हैं । उन चोरों को वहाँ यहाँ से पकड़-पकड़कर लाओ । उनको बाँध-बाँधकर कैद करो ।”

भारतेन्दु समाज-सुधार चाहते थे । परन्तु कुछ आलोचक उन्हें क्रान्तिकारी सिद्ध करने के आदेश में भारतेन्दु के लेखकों में जो उन्होंने नहीं भी लिखा है, उसे खोज निकालते हैं । यह भारतेन्दु के नाट्य-लेखन पर ऐसा भाष्य हुआ कि जिसमें भारतेन्दु को अपनी इच्छानुसार ढाल लिया गया हो । कुछ विद्वानों ने भारतेन्दु को ‘शाश्वतवादी’ सिद्ध करने का जैसा हास्यास्पद प्रयत्न किया है, वैसे ही कुछ उन्हें उग्र क्रान्तिवादी सिद्ध करने का व्यर्थ यत्न करते हैं । भारतेन्दु का यथार्थ मूल्यांकन करते समय यह ध्यान में रखना चाहिए कि उन्होंने तत्कालीन राजनैतिक-सामाजिक यथार्थ का चित्रण करते हुए लोकचेतना तथा जन-जागृति की नींव रखी । सच्चा कलाकार दल विशेष का जड़ ‘माइक्रोफोन’ नहीं होता, वह अपने समाज की जिह्वा होता है, उस समाज-स्थिति का उद्गाता और पथ-निर्देशक ।

आधुनिक नाटकों में सामाजिक यथार्थ के सोद्देश्य चित्रण के सम्बन्ध में में दो उद्धरण देना चाहता हूँ । इसने ने स्वयं लिखा है—

“ग्रॉल दैट वी लिड ऑन अपटिल नाउ हैज बीन दी रेम्नेन्ट्स ऑफ़ दि रिवोल्यूशनरी डिशेज ऑफ़ दि लास्ट सेंचुरी, ऐंड वी हैव बीन लौंग एनफ़ चिंविंग दीज ओवर एण्ड ओवर अगेन । ओवर आइडियाज डिमाण्ड ए न्यू इंटरप्रेटेशन . . . देअर इज ओन्ली वन थिंग दैट अवेल्स—टू रेवोल्यूशनाइज पीपुल्स माइण्ड्स ।”

(अर्थात्—अब तक जिस पर हम जीते आये, वे गत शताब्दी के क्रान्तिकारी खाद्य के खण्डमात्र थे, और हम उन्हीं का चर्विग-वर्गन, पिष्टपेषण करते रहे । अब हमारे विचारों में एक नया आशय और एक नया भाष्य अपेक्षित है एक ही कार्य उपयोगी होगा—जनता के मन को क्रान्तिपूर्ण बनाना ।)

जनता के मन में क्रान्ति बीजों का वपन केवल ध्वंसवादी-नकारात्मक प्रगति-

वादी आलोचक कहते हैं, वैसा सस्ता काम नहीं है। जन-शिक्षा की भी उसमें अपेक्षा है। ऐसे आलोचकों को उन्हीं के समानधर्मा अलेक्जेंडर ए फादायेव के 'हमारी यथार्थ-वाद की ओर राह' (अवर रोड टू रियलिज्म) लेख के अंश को सुनाना चाहता हूँ—

“ह्लाट इज सोशलिस्ट रियलिज्म ?—सोशलिस्ट रियलिज्म इज दि एबिलिटी टू प्रेजेंट लाइफ इन इट्स डेवलपमेंट, दि एबिलिटी टू डिस्सर्न एण्ड रीपीदि ट्रूथ इन लाफ्स टु-डे दि सीड्स ऑफ़ टुमॉरो।” अर्थात्—“समाजवादी यथार्थवाद क्या है ? —समाजवादी यथार्थवाद का अर्थ है, जीवन को उसके विकास में व्यक्त करने की क्षमता, जीवन के 'आज' में जो आगामी 'कल' के बीज मौजूद हैं, उन्हें परखना और उनका सत्य व्यक्त करने की क्षमता।”

प्रगतिवादी आलोचकों का एक दल निरे विनाश-पक्ष का भंरव-घोष करता है, वह विकास-पक्ष को देखना ही नहीं चाहता।

भारतेन्दु के समय भारत में न समाजवाद था, न प्रगतिवाद। परन्तु अपनी अद्भुत व्यंग-शक्ति, पनी समाज-विश्लेषण-दृष्टि से सामाजिक यथार्थ के चित्रण में उन्होंने वह चमत्कार दिखलाया है कि हम उनकी उस देन के अभी भी श्रेणी हैं। कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट होगी, जो कि उनके नाटकों से यहाँ चुनकर दिये जा रहे हैं—

(१) 'भारतेन्दु-नाटकावली' से—'विद्यासुन्दर' में—

धूमकेतु—क्यों रे तुम लोगों ने क्या शब्द कर रक्खा है ?

हीरा मालिन—दोहाई कोतवाल की, यह सब जो चाहते हैं गाली देते हैं, हाथ इस राज्य में स्त्रियों का ऐसा अपमान ! महाराज धूमकेतु आप तो पण्डित हैं, आप इसका विचार क्यों नहीं करते ?

प्रथम चौकीदार—महाराज ! यही राँड सब कुकर्म की जड़ है और तिस पर ऐसी बातें बनाती है।

हीरा मालिन—एक में ही दुष्कर्म करती हूँ और तुम साधु हो। देखो कोतवाल, हम तो कुछ नहीं करते, और तुम सब हमारी प्रतिष्ठा बिगाड़ते हो।

धू० के०—(हँसकर) हाँ, हाँ ! मैं तेरी सब प्रतिष्ठा समझता हूँ, पर यहाँ से क्या ? सब लोग महाराज के पास चलें, जो वह चाहेंगे सो करेंगे।

हीरा मालिन—श्रे कोतवाल बाबा, इस बुढ़िया को क्यों पकड़े लिये जाते हो, बुढ़िया के मारने से क्या लाभ होगा, मुझे अपने बाप की सौगन्ध जो मैं कुछ जानती हूँ, भगवान् साक्षी है कि मैं किसी पाप में रही हूँ। (पृ० २१)

(२) 'वैदिकी हिंसा हिंसा' न भवति' से—

राजा—आइये गण्डीदास जी।

पुरोहित—गण्डकीदास जी हमारे बड़े मित्र हैं। यह और वैष्णवों की तरह जंजाल में नहीं फँसे हैं। यह आनन्द से संसार का सुख-भोग करते हैं।

गण्डकीदास—(धीरे से पुरोहित से) अजी, इस सभा में हमारी प्रतिष्ठा मत बिगाड़ो। वह तो एकान्त की बात है।

पुरोहित—वाह जी इसमें चोरी की कौनसी बात है ?

गण्डकीदास—(धीरे से) यहाँ वह वैष्णव और शैव बैठे हैं।

पुरोहित—वैष्णव तुम्हारा क्या कर लेगा ? क्या किसी की डर पड़ी है ?

विदूषक—महाराज, गण्डकीदास जी का नाम तो रण्डादास जी होता तो अच्छा होता।

राजा—क्यों ?

विदूषक—यह तो रण्डा ही के दास है।

आशङ्खचक्राङ्गि कतबाहुदण्डा गृहे समालिङ्गितबालरण्डाः।

अथच, मराडा भविष्यन्ति कलौ प्रचण्डाः।

रण्डामण्डलमण्डनेषु पटवो धूर्ताः कलौ वैष्णवाः।' (पृ० ८०)

(३) 'भारत-दुर्दशा' में—

बंगाली—'खड़े होकर सभापति साहब जो बात बोला सो बहुत ठीक है। इसका पेशतर कि भारत दुर्दैव हम लोगों का सिर पर आ पड़े' कोई उसके परिहार का उपाय शोचना अत्यन्त आवश्यक किन्तु प्रश्न कई है, जे हम लोग उसका दमन करने शाकता कि हमारा बोजर्जोबल के बाहर की बात है। क्यों नहीं शाकता ? अलबत्त शकंगा, परन्तु जो सब लोग एकमत होगा। (करतलध्वनि) देखो हमारा बंगाल में इसका अनेक उपाय साधन होते हैं। ब्रिटिश इण्डियन असोसिएशन लोग इत्यादि अनेक शभा भी होते हैं। कोई थोड़ा भी बात होता, हम लोग मिल के बड़ा गोल करते। गवर्नमेण्ट तो केवल गोलमाल से भय खाता। और कोई तरह नहीं शोनता। ओ हुआ का अखबारवाला एक बार ऐसा शोर करता कि गवर्नमेण्ट को अलबत्त शनने होता। किन्तु ईयाँ, हम देखते हैं कोई कुछ नहीं बोलता। आज सब आप सभ्य लोग एकत्र हैं, कुछ उपाय इसका अवश्य शोचना चाहिए।

—उपनिवेश' पृ० ४८६

इस तरह से समाज की बुराइयों का चित्रण करते हुए नाटककार का ध्यान किस ओर होना चाहिए, यह मुख्य प्रश्न है। क्या समाज में पाप निरा नियति का अभिशाप है ? सज्जन जो कष्ट पाते हैं, वह क्या केवल भाग्य की बिडम्बना है ? शॉ से जब यह प्रश्न पूँछा गया था तो उसने बहुत स्पष्ट उत्तर दिया था कि—

“मैं पाप के प्रश्न को दैव-दुर्विपाक मानकर छोड़ नहीं देता। ब्लांको पान्सेत



पात्र के मुँह से मँने कहलवाया है, इसका उत्तर । मेरी सब रचनाओं के पीछे एक रचनात्मक उत्क्रान्तिवाद के स्पष्ट दर्शन होंगे । यह बटलर और बेर्गसा का दर्शन है ।”

भारतेन्दु ने किसी ऐसी दार्शनिक मान्यता का सुस्पष्ट मण्डन तो अपनी रचनाओं में नहीं किया । यत्र-तत्र ‘हाय रे देव !’ के भी दर्शन हो जाते हैं । परन्तु भारतेन्दु ने मानवी परिश्रम और पराक्रम, अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध लड़ने की निरन्तर आशावादिता के बहुत सुन्दर उदाहरण अपने नाटकों में रचे हैं । परवर्गों हिन्दी नाटककारों में किसी ने ‘नियति के विलय’ के शून्यवाद अथवा विस्मृति कराने वाले आनन्दवाद की या हृदयवाद की क्षणिक शरण ली है । भारतेन्दु के नाटकों में सामाजिक परिकल्पना इसी दृष्टि से अधिक स्वस्थ और सहेतुक, अतः ऐतिहासिक मूल्य की वस्तु बन गयी है ।

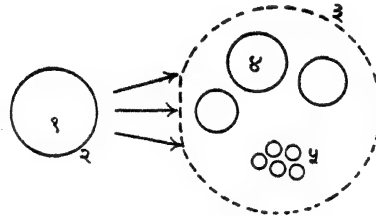
“भारतेन्दु के नाटकों में सबसे पहले ध्यान इस बात पर जाता है कि उन्होंने सामग्री जीवन के कई क्षेत्रों से ली है । ‘चन्द्रावली’ में प्रेम का आदर्श है । ‘नीलदेवी’ पंजाब के एक हिन्दू राजा पर मुसलमानों की चढ़ाई का ऐतिहासिक वृत्त लेकर लिखा गया है । ‘भारत-दुर्दशा’ में देश-दशा बहुत ही मनोरंजक ढंग से सामने लायी गयी है । ‘विषयविषमौषधम्’ देशी रजवाड़ों की कुचक्रपूर्ण परिस्थिति दिखाने के लिए रचा गया है । ‘प्रेमजोगिनी’ में भारतेन्दु ने वर्तमान पाखण्डमय धार्मिक और सामाजिक जीवन के बीच अपनी परिस्थिति का चित्रण किया है, यही उसकी विशेषता है ।”

—पं० रामचन्द्र शुक्ल; हिन्दी साहित्य का इतिहास; पृ० ४६१

## उपन्यास में मनोविज्ञान

उपन्यास-रचना जो कि एक कला है, उसका मनोविज्ञान से क्या कोई सम्बन्ध भी है ? क्या औपन्यासिक का मनोवैज्ञानिक होना लाजिमी है ? यदि है तो क्यों ? क्या मनोविज्ञान के ज्ञाता न होकर भी प्राचीन औपन्यासिक सफल नहीं हुए ? फिर यह प्रश्न होता है कि औपन्यासिक को किसके मन की जानकारी चाहिए—अपने स्वयं के, अपने आसपास की अनुभवाधेय जीव-सृष्टि के, अपने काल्पनिक पात्रों के, अपने पाठक के या अपने प्रकाशक के ? या सबके ? फिर यह मन भी कौनसा—वैज्ञानिक तो मन के भिन्न-भिन्न पहलू लेकर उस पर चर्चा करते हैं—जया मन के सामग्र्य का या मनःखंडों का ? अन्तर्मन का या बहिर्मन का ? चेतन या अचेतन मन का ? मन भी क्या देश-काल परिस्थिति से मुक्त है ? यदि हाँ, तो उस अध्यात्मवादी के विशुद्ध मन से औपन्यासिक को क्या प्रयोजन है ? यदि नहीं तो फिर मन के विज्ञान का प्रश्न किंसा ? फिर 'मन को मन से तौलिये, दो मन कभू न होय' भी कहाँ तक ठीक है ? क्या उपन्यासकार का स्थियं का मन उसके विदेक्ष्य, 'मन' से अप्रभावित रहता है ? इन दोनों मनों के बीच में कौनसे परस्पर व्यापार, क्रिया-प्रतिक्रियाएँ सम्भवनीय हैं ?

संक्षेप में हमारा प्रश्न कुछ इस प्रकार की आकृति में शायद बँध सके—



१—उपन्यास-लेखक का मन ।

२—वृत्त—बाह्य-जगत्, जिसका प्रभाव १ पर संघर्ष, विरोध, समन्वय या केवल स्थायी या संचारी भाव-जागरण के आधेय के रूप में पड़ता है ।

३—उपन्यास का मनोलोक—काल्पनिक अथवा यथार्थ ।

४—प्रमुख पात्रों का मन ।

५—गौण पात्रों का मन ।

स्पष्ट है कि यद्यपि मन के बिन्दु यत्र-तत्र बिखरे हैं, और वृत्त भी एक वक्र-रेखा का बना है, जो कि अन्ततः बिन्दुओं से ही बनी हुई है, तो भी जहाँ तक मनो-विज्ञान का सम्बन्ध है, औसत पाठक वैज्ञानिक होने का दावा नहीं करता। 'उपन्यास-लेखक को भी मनोवैज्ञानिक होना ही चाहिए, यह कहना ज्यादाती है। अतः कुछ अंशों में औपन्यासिक और सर्वांशतः आलोचक पर औपन्यासिक मनोवैज्ञानिकता की जिम्मेवारी आ पड़ती है।

साधारणतः इतना दीबाचा काफी समझकर अब प्रश्न को बिल्कुल दूसरे छोर से उठाता हूँ। गए दस वर्षों में सर्वाधिक उपन्यास मने मराठी में पढ़े, फिर अंग्रेजी में, फिर हिन्दी में। उस क्रम से चर्चा करूँगा। मुझमें के उपन्यास-लेखक साहित्यालोचक और मनोविज्ञान के विद्यार्थी का निष्कर्षात्मक वाद-विवाद अन्त में देकर औपन्यासिक मनोवैज्ञानिकता पर अपना मन्तव्य संक्षेप रूप से समाप्त करूँगा।

#### मराठी उपन्यास

मराठी उपन्यासों में मनोवैज्ञानिकता पर चूँकि हिन्दी-भाषी पाठकों के लिए लिख रहा हूँ, अधिक सूक्ष्म विवरण में जाना या नाम, उदाहरण गिनाना ठीक नहीं। साधारण प्रवृत्तियों पर ही कहा जा सकेगा। हरिनारायण आपटे मराठी के प्रेमचन्द समझिए। उनके उपन्यासों में मनोविज्ञान का सहारा बहुत स्थूल रूप से लिया जाता था। पात्रों की भावनाओं का विश्लेषण नहीं होता था, वर्णन से ही काम चलता था। परन्तु उनके यथार्थवादी कहानीकार होने के कारण उनके 'भी', 'पण लक्षांत कोण घेतो' वगैरह सामाजिक उपन्यासों से बहिर्जगत से बनने-बिगड़ने वाले मनो का अच्छा खासा खींचा गया है। और डिक्सेन्स के समान, इसीलिए उनके पात्र निरे 'टाइप' होते थे। मानो उन पात्रों का अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व न हो और वह विकसित होने की कोई गुञ्जाइश भी न हो। मानो वे उपन्यासकार के हाथों नचने वाले निरे कठपुतले हों।

हरिभाऊ आपटे के बाद मराठी उपन्यास-क्षेत्र में कई वर्षों तक नाथमाधव और हडप के ऐतिहासिक और जासूसी उपन्यासों का दौर रहा। देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों जैसी एक पीढ़ी गुजरी। अंग्रेजी के उपन्यासों के अनुवाद, जो अभी भी होते रहते हैं और बंगला अनुवादों की एक बाढ़-सी आ गई—रेनल्ड्स, बंकिम, शरच्चन्द्र, रवीन्द्रनाथ ये सब के लोकप्रिय लेखक थे। परन्तु इनके साथ मराठी उपन्यास के मनोलोक में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं घटित हुआ। मराठी पाठक और साथ ही लेखक भी इतना भावुक न होने के कारण शरच्चन्द्र का कोई वैसा घोर असर मराठी उपन्यास पर नहीं पड़ा जैसा हिन्दी में दिखाई देता है। 'नवी क्षितिज' जैसा एकाध अपवाद छोड़ दें।

उपन्यास में मनोवैज्ञानिकता को सूक्ष्मता से प्रयुक्त किया एक नई पीढ़ी के लेखकों ने, जिनमें से प्रमुख हैं—फडके, खांडेकर, माडखोलकर, पु० य० देशपांडे, गीता साने, दिघे और पेंडसे। अभी '४२ के आन्दोलन पर मराठी में आर्थे दर्जन उपन्यास प्रकाशित हुए जिनमें से फडके का 'शाकुन्तल', माडखोलकर का 'प्रमद्वरा', शं० बा० शास्त्री का 'अमावास्या' आदि ज्वल भी हो गये। हिन्दी में इतनी विराट् राष्ट्रव्यापी घटनाओं पर, '४२ की अगस्त-क्रान्ति पर, बंगाल की भुखमरी पर, युद्धजन्य मध्यवर्ग की तंगी पर कितने औपन्यासिकों ने लेखनी उठाई है ? अब उपरोल्लिखित सातों उपन्यास-लेखकों का प्रयुक्त किया हुआ मनोविज्ञान कुछ बारीकी से देखें। फडके एक चतुर उपन्यास-कथाकार हैं। वे इस बात को हमेशा देखते हैं कि पाठक का कुतूहल किस प्रकार जाग्रत रक्खा जाय। वे मनोविज्ञान के प्रोफेसर हैं। वे पात्रों के मन की सूक्ष्म से सूक्ष्म हलचलों के बड़े सजीव वर्णन, अत्यक्ष घटनाओं, सूचक संवादों और रेखाचित्रों के सहारे करते जाते हैं। इस कारण 'जागूर' से 'आवे रचें बंड' तक दो दर्जन उपन्यासों में उनका कोई भी उपन्यास अरोचक नहीं रहा है। उन्होंने बिकी बौम और जेम्स हिल्डन के अंग्रेजी उपन्यासों के अनुवाद भी किये हैं। फडके की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे मनोवैज्ञानिकता को अतिवाद तक नहीं पहुँचाते। उनकी लेखनी का सबसे बड़ा चमत्कार उनका लेखनी पर संयम है। खांडेकर और साने गुरुजी 'आदर्शोन्मुख यथार्थवादी' स्कूल के लेखक हैं। वे मानवतावाद को प्रमुख मानकर चलते हैं। इस कारण से अपनी मान्यताओं और प्रमेयों को सिद्ध करने की दृष्टि से वे पात्रों को लेकर चलते हैं। अब फडके के उपन्यासों की संख्या ४३ हो चुकी है।

प्रेमचन्द की ही भाँति खांडेकर के पात्र भा (विशेषतः नायिकाएँ) स्वतः विकसित नहीं जान पड़तीं, कृत्रिम बन जाती हैं। साने गुरुजी अधिक सजीव शैली के लेखक हैं। परन्तु समाजवाद का प्रचार उनके पात्र परिपोष से अधिक उभर उठता है। वे बच्चों के मन का बहुत ही संतोषजनक विवेचन करते हैं। माडखोलकर मूलतः रोमैण्टिक उपन्यासकार हैं। उनमें का कवि उनमें से पत्रकार से सदा जूझता-सा उनके उपन्यासों में दिखता है। एक असफल कवि एफ सफल आलोचक बनकर और व्यवसाय से दैनिक पत्रकार होने के कारण उनके स्वयम् के मन में अनेकानेक भावनाओं का द्वन्द्व चलता रहता है। द्वन्द्व के सामान्य और विशिष्ट दोनों अर्थों में वे सफल मनोवैज्ञानिक चित्रण करते हैं। उन पर आक्षेप है कि वे नग्न चित्रण करते हैं। कुछ आलोचक उन्हें अश्लील भी बतलाते हैं। परन्तु जीवन के वर्जित प्रवेशों को उधारने में वे एक निर्भय यथार्थवादी की भाँति सूक्ष्म-से-सूक्ष्म रेखा को चित्रित करते हैं। एक बात अवश्य है कि कहीं-कहीं लेखक की दृष्टि उस विवश अङ्ग पर ठिठकी-सी जान पड़ती है। हासोन्मुख समाज-व्यवस्था में 'सेक्स' को लेकर जो कुछ चिंतडावाद निमित्त होते हैं; जो उसके

प्रति अस्वस्थ आकर्षण नायक-नायिकाओं में रहता है, वह 'शाप' से 'डाक बंगला' तक उनके उपन्यासों में स्पष्ट है। पु० य० देशपाण्डे काँग्रेस समाजवादी बने। विद्वेचन में शास्त्रशुद्ध दृष्टि का आग्रह रखते हुए वे अपने आरम्भिक दो उपन्यासों में (सुकलेलें फूल, सदाफुली) एक कवि की आत्मा लेकर आये। बंगालियों की भावुकता और रूसियों की सादगी का सुन्दर सम्मिलन उनकी शैली में था। विभावरी शिखरकर की भाँति देशपाण्डे भी एक युग-प्रवर्तक औपन्यासिक माने गये—बिल्कुल उनकी आरम्भिक 'बन्धनाच्या पलीफडे' से ही। परन्तु फिर एक अर्सा बीता, और 'विशाल जीवन', 'काली राणी' और 'नये जग' में एक ऐसी दुरूह, मन के अवश्वेतन को व्यक्त करने वाली दार्शनिक शब्दावली में उपन्यास लिखने लगे कि उनमें का औपन्यासिक तन्त्र निःशेष होता चला। 'विशाल जीवन' में जेल से छूटे हुए कार्यकर्ता की त्रुचित व्यक्तिवाद से ऊपर उठकर जनता में जा मिलने की प्रबल इच्छा और बोजुआ संस्कारों के बीच प्रबल संघर्ष है। 'काली राणी' में समवयस्क भाभी-देवर के प्रेम के साथ-साथ एक काली मोटर-साइकिल को उपन्यास की नायिका बना, गति, अखण्ड और प्रचण्ड गति, केवल गति, न जाने कहीं दूर-दूर हो जाने की वृत्ति का विश्लेषण उपस्थित किया है। 'नये जग' में एक प्रियकर युद्ध पर जाकर नपुंसक बनकर लौटता है और अपनी प्रेयसी का यौन समाधान न कर पाने के कारण उसे अन्य से विवाह कर लेने का आग्रह करता है। 'युद्धोन्मुख दुनिया का', लेखक के मत से यह प्रतीकात्मक चित्रण है। कुछ-कुछ अल्डस हक्सले की-सी नकारात्मक वृत्ति देशपांडे के उपन्यासों में आती जा रही है, जो उन्हें कहीं रहस्यवाद में न खो डाले यही भय है। गीता साने ने भी माड़खोलकर और देशपाण्डे की भाँति नर-नारी के वासना-पक्ष को छुआ है, परन्तु वे मनोविश्लेषण के चक्कर में नहीं पड़ती। समाज की वस्तुस्थिति को ज्यों-का-त्यों देने में वे नहीं चूकतीं। विशेषतः पितृ-प्रधान समाज व्यवस्था में पुरुष द्वारा स्त्री पर नाना प्रकार से होने वाले प्रत्याचाराँ को बड़े दर्द और रोष, विद्रोह और व्यंग्य से उन्होंने उपस्थित किया है। वे 'फेमिनिस्ट' यानी स्त्री-स्वातन्त्र्यवादिनी हैं। मगर उनमें बर्जीनिया वल्फ जैसी जीवन के सामग्र्य को छूने की क्षमता नहीं। अन्त के दो नाम, २० वा० दिघे और मर्देकर मेने इसलिए लिये हैं कि उनमें से दोनों के ही एक-एक दो-दो उपन्यास प्रकाशित हुए हैं पर वे चर्चा का विषय बन चुके हैं। दिघे की 'पाणकला' और 'सराई' में कौंकन खेतीहर के जीवन का बहुत सुन्दर जीवन व्यक्त हुआ है। सोलोखोफ़ या स्टाहनबेक के सामूहिक जीवन के चित्रण के प्रयोगों के समान (यथा, 'एण्ड क्वाएट फ्लोज़ द डान' और 'प्रेप्स ऑफ़ रेंथ')। दिघे के 'उपन्यास का नायक भी पूरा गाँव है। उनमें एक बड़े युग-दर्शी औपन्यासिक की संभावनाएँ हैं। पढ़कर ने जेम्स जौहस के 'यूलेसिस' के ढंग पर एक

उपन्यास 'रात्री चा दिवस' (रात्र का दिन). लिखा, जो करीब कथानकशून्य है उसमें एक सहस्रम्पादक के चेतन, अर्द्धचेतन मन में उठने वाली संवेदनाओं और सहस्मृतियों (एसोशिएसंस) का चित्रण करने का प्रयास किया है। परन्तु उसके पीछे कोई निश्चित उद्देश्य न होने के कारण केवल प्रयोग के लिए प्रयोग बनकर वह चीज रह गई। उनकी दूसरी कृति 'लाल मिट्टी' (ताम्बड़ी माती) में युद्ध को लेकर एक गंवार पहलवान जो सिपाही बन जाता है, उसका दृष्टिकोण और भाईकुमार का कामरेडी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। परन्तु दोनों के रोमांस के प्रति रखीं में कुछ-कुछ प्रचारात्मक, साम्यवादियों के प्रति वितृष्णा झलक उठी है। संक्षेप में, मराठी उपन्यासों में इस दिशा में, जागरूक, स्पष्ट, उत्तम प्रयोग हो रहे हैं। सब के सब सफल नहीं कहे जा सकते, परन्तु पश्चिमी आदर्शों को स्थानीय रंग में ढालकर वे अद्भुत मिश्रण उपस्थित करते हैं। कभी-कभी वह विदेशी पौधा देशी ज़मीन पर जम जाता है, फूल-फल उठता है, कभी विकसित नहीं हो पाता।

#### अंग्रेज़ी उपन्यास

अंग्रेज़ी उपन्यास में उतने नहीं पढ़े जितनी उनके विषय में आलोचकों का मत था। वैसे तो मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की ओर अंग्रेज़ी में झुकाव घटना-प्रधान ऐतिहासिक उपन्यासों के निर्माता स्कॉट के विरोध में उसी के काल में जेन ऑस्टिन नामी लेखिका से ही शुरू होता है। परन्तु उस समय घरेलू वातावरण को लेकर जो उपन्यास लिखे जाते थे, वे मनोवैज्ञानिक आज के अर्थ में नहीं कहे जा सकते। डिक्सेन्स और थैकरे ने निम्न-वर्ग के और मध्य-वित्त वर्ग के चरित्रों को लेकर उनके मन में बैठने का प्रयत्न किया, परन्तु प्रचार पक्ष डिक्सेन्स में कना पक्ष पर हावी हो गया, और थैकरे बेचारा अपने अहं को छिपा न सका। परिणामतः डिक्सेन्स के पात्र, फास्टर् के शब्दों में समतल (प्लैट) बने रहे और थैकरे के उपन्यासों में आ-जाकर थैकरे ही प्रधान नायक बना रहा (जैसे शाम में)। उसके बाद एक युग मध्य विक्टोरियन काल में सनसनीपूर्ण उपन्यासों का बीता। उपन्यास के द्वारा साहस-कथा और भयानक रस का निर्माण होने लगा। श्रीमती शैले के 'फ्रेन्स्टाइन' (जिसके फिल्म पर विज्ञापन रहता था—'कच्चे दिल वाले लोग यह चित्रपट न देखें') से लगाकर राइटर हैगार्ड के 'शी' तक यही धारा चलती रही। एडगर वॉलेस और कानन डोइल् के जासूस उपन्यास इसी की एक प्रशखा मात्र हैं।

इन 'गोथिक' या 'स्टैंड' उपन्यासों से तंग आकर हेनरी जेम्स जैसे औपन्यासिक उस शैली की ओर झुके जिसे कि मनोवैज्ञानिक उपन्यास-कला कहा जाता है। हार्डी, अपने घनीभूत निराशावाद के साथ, मैरेडिथ अपने व्यंग्यपूर्ण सूक्ष्मावलोकन के साथ,

कान्नेड अपने भाग्यवाद के साथ इस क्षेत्र में उतरे और उन्होंने एक-से-एक बढ़कर मजेदार पात्र उपस्थित किये। जूड, क्लारा, कप्तान, संकविर। इधर फ्रांस में जो कथा-क्षेत्र में प्रयोग हो रहे थे, विशेषतः गोला, फ्लाबेयर, बादलेयर, मोपासां के यथार्थवादी, नग्नवादी या प्रकृतिवादियों के यौन जीवन के वर्जित प्रदेश में जाकर भाँकने की प्रवृत्ति अंग्रेजी औपन्यासिकों पर अपनी छाया छोड़ चली। मार्सल प्रूस्त और बोस्ताएवस्की के प्रभाव भी भुलाये नहीं जा सकते। फलतः गैल्सवर्दी, एच० जी० वेल्स और अर्नाल्ड बेनेट की गत महायुद्धपूर्व की वह पीढ़ी सामने आती है जिन्होंने 'मानवतावाद,' समाजवाद और नव्य यथार्थवाद की भित्ति निर्मित की। गैल्सवर्दी ने अपने उपन्यासों में पीढ़ियों का संघर्ष उपस्थित किया। सैम्युएल बटलर की भाँति उसके दृष्टिकोण पर भी नवीन वैज्ञानिक प्रयोगों और सिद्धान्तों, यथा विकासवाद या परम्परा शाला के मंडेसवाद आदि का प्रभाव पड़ा है। एच० जी० वेल्स ने तो साइंस को मी रोमांस में परिणत करने का दुसाध्य प्रयत्न किया। बेनेट और प्रीस्टली अंग्रेज मध्य-वित्त कुटुम्बों की ह्रासोन्मुखता को चित्रित करते रहे। इन औपन्यासिकों ने मनोविज्ञान को आश्रय दिया परन्तु जहाँ तक वह रोमांस की सहायता करता था, इससे अधिक नहीं।

इनके बाद एक सशक्त दार्शनिक, काव्यात्म मन के अवचेतन में बैठकर उसके आस-पास को चित्रित करने वाले औपन्यासिकों की एक पीढ़ी आगे आई, जिसके अग्रदूत थे डी० एच० लारेंस, और पश्चाद्वर्ती जेम्स जॉयस, 'अल्डूस हक्सले और वर्जीनिया वूल्फ़। लारेंस की 'लेडी चैटरलोज़ लवर' ज्वलत हो गई, अपनी अदलीलता के कारण, परन्तु किसी बड़े मनोवैज्ञानिक ने उस पर निर्णय दिया कि प्रत्येक अविवाहिता को वह पुस्तक एक बार पढ़नी ही चाहिए। 'सन्स एण्ड लवर्स' में माता के प्रति यौन आकर्षण तथा 'कंगारू' में अप्राकृतिक संभोगेच्छा को आधारभूत लेकर फक्कड़ लारेंस ने अपने अर्थ-सत्य बहुत ज्वलन्त शैली में प्रस्तुत किये। फ्रायड के निष्कर्ष तब तक यूरोप की मनसा पर छाये हुए थे। लारेंस एक प्रकार से घोर अराजकवादी था, अहंवादी। वह वर्तमान सभ्यता के नाम पर चलने वाली असभ्यता का सबसे बड़ा विध्वंसक था। उसकी लेखनी में पर्याप्त शक्ति थी, परन्तु समाज की विकृतियों के विश्लेषण-निदान में उसने आर्थिक कारण परम्परा को प्राधान्य न देखकर, मौन अव्यवस्था और वर्जनाओं पर जोर दिया। इस शलत जोर (Wrong emphasis) के कारण, उसकी सारी तीक्ष्णता एक चट्टान पर जाकर जैसे चूर-चूर हो गई। हक्सले के विशाल अध्ययन और विविध विज्ञानों से परिचय के कारण उसने आरम्भ बहुत अच्छा किया, परन्तु अन्ततः वह भी धीरे-धीरे एक घोर नकारात्मकता की ओर झुकने लगा। इन दो प्रवृत्तियों (लारेंस और अल्डूस हक्सले) की असफलता को समझने में हमें शेखर और जैनेन्द्र के उपन्यास बहुत सहायक हो सकते हैं। यद्यपि

यूरोपीय औपन्यासिकों से तुलना करना दोनों के हक में शलत होगा, फिर भी शेखर में पाई जाने वाली उद्धत आत्म-महत्त्व-प्रदान प्रवृत्ति और जेनेन्द्र की आत्म-प्रपीड़क प्रवृत्तियों का सामाजिक विश्लेषण में, अन्ततः जाकर कितना कम प्रभाव पड़ता है, यह दर्शनीय है। इन दो लेखकों से भिन्न प्रवृत्ति जौहिस की है। वह एक मनोविश्लेषण-कार की निर्ममता लेकर भाषा, शैली, टेकनीक सब चीजों में एक क्रान्ति उपस्थित करता है। परन्तु उसकी प्रवृत्ति अन्ततः बहुत अस्वस्थ जान पड़ती है। इस प्रकार के प्रयोग यद्यपि कम क्या नहीं के बराबर है परन्तु उनकी कुछ छाया इलाचन्द्र जोशी और नरोत्तम नागर के उपन्यासों में पाई जा सकती हैं। अन्त में रह जाती है बर्जोनिया बूल्फ। इसका दृष्टिकोण जीवन की समग्रता के प्रति बहुत ही न्यायोचित था। आलोचिका के नाते वह जितनी सफल है, औपन्यासिका के नाते उतनी नहीं। हिन्दी में उपन्यास स्त्री लेखिकाओं के दो-चार के ही हैं, परन्तु वे भी प्रथम श्रेणी के नहीं। पता नहीं इस क्षेत्र में लेखिकाएँ क्यों कदम नहीं उठातीं। वे बस कविता, गद्य-काव्य तक ही अपना कर्मक्षेत्र सीमित मानती हैं। इस युद्धोत्तर अंग्रेजी मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों की पीढ़ी में मानसिक-विकृतियों के प्रति एक विचित्र प्रकार की आसक्ति दिखाई देती है, जो अवांछनीय है। दूसरे वैज्ञानिक शब्दावली के चक्कर में वे जीवन और जनता से अत्यधिक कटे हुए उपरि-मध्य-वर्ग या श्रीमान् वर्ग का ही दृष्टिकोण उपस्थित करते हैं।

इनके बाद इस युद्ध के आरम्भ-आन्तरम्भ में एक और नई पीढ़ी लेखकों की सामने आ रही है जो रूसी और अमरीकन अधिक है; और जो अपनी लेखनी जन-जन के दर्द में डुबोकर लिखती है। काफ़का का आध्यात्मिक संकेतवाद या टामसमैन का मनोवैज्ञानिक चमत्कारवाद अब आकर्षक कम पड़ता जा रहा है। और उसके बदले में अपन सिक्लेयर या ए-हेनबुर्ग के आदर्श अधिक प्रभावशाली हो रहे हैं। मनोविज्ञान उपन्यास में उसी प्रकार धूल-मिलकर आ रहा है, जैसे आचार-कला में। केवल मनो-वैज्ञानिक प्रयोग के लिए उपन्यास नहीं लिखे जाते। वस्तुतः एक मनोवैज्ञानिक और कलाकार के दृष्टिकोणों में ही मूलभूत अन्तर है, जैसे कि युंग ने अपने 'आत्मा की खोज में आधुनिक मानव' पुस्तक में कहा है। अंग्रेजी उपन्यासों में मनोविज्ञान पर पठनीय समीक्षक पुस्तकें हैं। इ० एम० फास्टर, की 'आस्पेक्टस ऑफ़ नावेल', राल्फ फाक्स की 'नावेल एण्ड दी पोपल' जोड की 'गाइड टू माडर्न थाट' में साइकोलौजी इन्वेन्डम लिटरेचर', केनक्रास की अंग्रेजी उपन्यास के विकासेतिहास पर पुरानी पुस्तक आदि-आदि।

### हिन्दी उपन्यास

हिन्दी उपन्यासों पर प्रसंगोपात चर्चा ऊपर आ ही चुकी है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि हिन्दी के आधुनिक उपन्यासों में इस ओर कोई बहुत सतर्कता



से काम नहीं लिया गया है। 'प्रेमचन्द के सीधे-सादे पात्रों में जो सजीवता थी वह जाकर प्रसाद के पूर्व योजित चरित्रों की भाँति यांत्रिकता इन आधुनिकों के चरित्र-चित्रण में पाई जाती है। यानी उपन्यासों के पात्र स्वयम् अपने आप घटनाओं में से विकसित होते हुए आगे नहीं बढ़ते (जैसे नुट हैमसन के दोनों प्रसिद्ध उपन्यासों में) वरन् जैसे लेखक की इच्छानुसार बढ़ाये जाते हैं। लेखक के मन में एक पूर्व संकलित उद्देश्य है और उसकी पूर्ति के लिए कठपुतली की भाँति पात्र नचाये जाते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि उपन्यास-लेखक का मन ही सब पात्रों के मन पर हावी हो जाता है। कभी-कभी यह उपन्यास-लेखक और पाठक के मन से परिचालित होता है और पात्रों को बुरी तरह तोड़-मरोड़ डालता है और असंभाव्य घटनाएँ चरित्र क्रम-विकास गड़ता है। हिन्दी में शायद ही अब तक कोई आलोचक स्वयम् औपन्यासिक बना हो। वैसे हजारीप्रसाद जो द्विवेदी ने बाणभट्ट पर और 'शेखर' कार ने 'त्रिशंकु' नाम से समीक्षा पर लिखा है परन्तु प्रथम में आलोचक पंडित प्रधान हैं, दूसरे में कला-पारखी सौन्दर्य द्रष्टा। अतः अपनी रचना को तटस्थ दृष्टि से, स्वयम् आलोचक बनकर तौलने का प्रयास बहुत कम हिन्दी उपन्यासकारों ने किया है। नतीजा यह है कि आत्म-निर्णय के अभाव में अच्छे उपन्यास बहुत कम आगे आ रहे हैं जब कि उपन्यास नामक साहित्य प्रकार का यह युग माना जाता है और पाठकों में उसके प्रति भूख भी कम नहीं।

अन्त में, इस लेख को मैं मुझमें के मनोविज्ञान के विद्यार्थी, समालोचक और उपन्यास-लेखक व्यक्तित्व के बीच में एक काल्पनिक संवाद उपस्थित करना चाहता हूँ। सुविधा के लिए तीनों को १, २, ३, इन नामों से हम पुकारें। ३—में उपन्यास लिखूँगा तो यह 'वाद' आदि का ध्यान भुलाकर जीवन जैसा मुझे दीखता है, वैसा ही उपन्यास में दूँगा।

(१) जीवन दिखाई देता है, या जो जीवन आप देखने जा रहे हैं। इसमें निष्क्रिय और सक्रिय ज्ञान-प्रक्रियाओं का अन्तर पड़ेगा।

(२) और देखने में दृष्टिकोण निहित है और दृष्टिकोण स्वयम् कई परिस्थितियों और सामाजिक कारणों की उपज है। अतः जीवन का कौनसा पक्ष आप देखेंगे। इस पर उपन्यास की साहित्यिकता की कसौटी बहुत कुछ निर्भर करेगी।

(३) नहीं, मैं समाज-विमुख उपन्यास नहीं रचूँगा। मैं समाज-जीवन की नित्य प्रतिदिन की समस्याओं को छूना चाहता हूँ। उन पर प्रत्यक्ष आघात करना चाहता हूँ। मैं उपदेशक नहीं बनूँगा। न पाठकों की मर्जी से चलूँगा।

(१) पाठक को आप इतना त्याज्य क्यों मानते हैं? शायद मोपाँसां ने एक बार कहा था कि 'जनता' जनता तो कई तरह के गुटों की बनी हुई है, जो कि

हम लेखकों से कहती हैं—‘हमें सन्तोष दी’, ‘हमारा मनोरंजन करो’, ‘हमारे हृदयों को छुओ’, ‘हमें रुलाओ’, ‘हमारे विचारों को जाग्रत करो’। इसी कारण से एक मनोवैज्ञानिक जन-मनसा का भी केवल अध्ययन करना चाहता है, उसी वृत्ति से जैसे कोई वैज्ञानिक अपने विषय का अध्ययन करता है। उस विषय के प्रति मोह अनावश्यक है। टी० एस० ईलियट का कलाकार की तटस्थता का सूत्र ‘जो कलाकार निर्माण करता है वह अनुभूति करने वाले कलाकार से भिन्न हैं। जितनी अधिक यह भिन्नता होगी, उतनी ही सफल कलाकृति होगी।’

(२) परन्तु ईलियट के इस मन्तव्य का वर्गीय विश्लेषण करने पर उसमें भी सिवा धनिक-वर्गोचित दम्भ और व्यक्तिवाद के अधिक क्या मिलेगा? यह बाढ़िक सहानुभूतिमात्र क्या कलाकृति में सजीवता डूँडेल सकती है? शेखर के दो भागों में एक या दो स्थान पर केवल देश-दशा का जिक्र आता है। अन्यथा वह सारी राष्ट्रीय घटना-विघटना से अप्रभावित, निरा शशि-शारदा अन्य भद्र महिलाओं के चक्कर में ही घूमता रहता है, जैसे चन्द्र प्रत्येक ‘राशि-चक्र’ में! दो-तीन स्थलों पर आर्थिक समस्या का भी जिक्र है, पर वोडहाउस के हास्य-रस के चरित्रों में ‘रेमिटेंस चंपीज’ की भाँति, वह समस्या भी किसी निकट या दूर की मौसी, बुआ, फूफी के मनिआर्डर से हल-हो जाती है। प्रकाशकों पर व्यंग्य अच्छा है, पर शेखर की समाज-विज्ञान पर पुस्तक भी कैसी असामाजिक है? उस हालत में शेखर कुछ-कुछ ‘निहिलिस्ट’ जान पड़ता है। और यहीं शेखर की हार है।

(३) आपकी आलोचना इतनी अधिक निरुत्साहजनक है कि इन सब आक्षेपों से बचते-बचते मैं शायद ही उपन्यास-रचना कर पाऊँगा। इसलिए सबसे अच्छी बात यह है कि संस्कृत वचनानुसार पुत्री का पिता अन्य होता है और भोक्ता अन्य; उसी प्रकार से मैं अपनी चीज लिखूँगा। आप उसे चाहें जो कहते रहिये। अच्छा आलोचक जी राम-राम!

साहित्य-संदेश-के अगस्त १९४५ के उपर्युक्त शीर्षक के मेरे लेख पर संपादकीय टिप्पणी द्वारा यह कहा गया कि हिन्दी-उपन्यासों में मनोवैज्ञानिकता पर विस्तृत आलोचना में लिखूँ। उसी बात को लेकर मैं आगे हिन्दी के आधुनिक करीबन २० औपन्यासिकों को चुनकर, उन पर अपने अभिमत को व्यक्त करने का प्रयत्न इस लेख में करूँगा। साथ ही मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हिन्दी-उपन्यास किन इयत्ताओं में से गुजरा और गुजर रहा है इस पर विस्तृत प्रकाश अंत में डालूँगा।

प्रेमचन्द-पूर्व के ‘परीक्षा-गुरु’ से ‘मंगल-प्रभात’, तक के उपन्यास बहुत कुछ वृहत्कथा के आदर्श पर थे। पाठकों के कौतूहल को जागृत रखना, यही उनका प्रधान उद्देश्य था। अतः देवकीन्दन खत्री और गोपालराम गहमरी की ऐयारी, तिलस्मी-

जासूरी रचनाओं ने हिन्दी-प्रचार की दृष्टि से चाहे बहुमूल्य सेवा की हो; उनमें लेखक का पात्रों के प्रति रखे कुछ ऐसा है कि कथा का घटना-प्रवाह अविच्छिन्न रहे, पात्र मरते-जीते चले जायें—असम्भव सम्भव होता रहे—किसी भी प्रकार से अरबोधन्यास के नायक की भाँति 'आगे क्या हुआ ?' यह पाठक की चिरन्तन जिज्ञासा अतृप्त रखी जाय, लहकाई जाय और आगे बढ़ाई जाय। 'रक्तमंडल' या 'चन्द्रकान्ता संतति' में इसी कारण से न तो नायक-नायिका परस्पर मन को समझने का प्रयत्न करते हैं और न कोई सामाजिक विपत्ति, परिस्थितिजन्य बाह्य विरोध या दबाव पात्रों में अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न कर देता है। सब कुछ इस प्रकार लेखक की इच्छानुसार घटित होता जाता है, मानों उस कथा-पात्र को संसार में स्वयं चलने की शक्ति ही न हो। एक प्रकार से ऐसे जड़ीभूत, गतिहीन वातावरण में मन का प्रसन्न ही उत्पन्न नहीं होता।

(१) प्रेमचन्द और (२) प्रसाद—'मनोवैज्ञानिक गुत्थी' को आधार मानकर कहानी लिखने का आरम्भ हिन्दी में प्रेमचन्द ने किया, जैसा कि उन्होंने स्वयं 'ग्राम-जीवन की कहानियाँ' की भूमिका में कहा है। व्यापक माननीय सहानुभूतियों से प्रेमचन्द का भावुक हृदय सदा भरा रहने के कारण, सेवा-सदन से गोदान तक के पात्रों के सामाजिक परिपादर्व को कहीं नहीं भूलते। उनके पात्र इसी कारण 'सजीव' होते हैं। जब जीव है तो उन्हें मन है। मगर उनमें से कई हैं जिन्हें अपना मन मारना पड़ता है। मन है कि होरी 'गोदान' करे, पर 'छः' सौ पृष्ठों के अन्त तक होरी की 'मन की मन ही माँहि रही'। यह क्यों—इस कारण मीमांसा में उपन्यास में मनोवैज्ञानिकता प्रेमचन्द में शुरू हो जाती है। जब समाज और व्यक्ति का संघर्ष है, तो वह प्रेमचन्द के निकट व्यक्ति के संघर्ष के रूप में प्रधान होकर सामने आया है। सेवा-सदन की नायिका की पति द्वारा उपेक्षा, रंगभूमि के सूरदास का अन्य पात्रों से सम्बन्ध, गबन के नायक का पाप की रुढ़ धारणा से भागने का प्रयत्न, अपने ही अन्तर्द्वन्द्वों से प्रपीड़ित गोदान का मि० मेहता, और निर्मला के वैधव्य की परिस्थिति से उत्पन्न समस्याएँ। इन सब उदाहरणों में प्रेमचन्द व्यक्ति-पात्रों की आत्मा में बैठते हैं, उनके अनुभाव-आवेग, विचार-विकारों के संघर्षों को पकड़ते हैं; परन्तु एक पात्र का अन्य पात्रों से सामाजिक और वैयक्तिक सम्बन्ध प्रेमचन्द के उपन्यासों में मनोवैज्ञानिकता उत्पन्न करता है। इसमें समाज को वे एक 'रंगभूमि'—गणित में दिए हुए निश्चित परिणाम की भाँति—अपरिवर्तनीय मान सकते हैं। फलतः जो भी परिवर्तन उपन्यास में उत्पन्न होते हैं, वे पात्रों के ही हृदय-परिवर्तन, आत्मिक पश्चात्ताप या ऐसी ही किसी घोर घटना-विघटना से निर्मित होते हैं। फलतः व्याख्यान सुनकर वेश्या-वृत्ति से पराङ्मुख होकर 'सेवा-सदन' की नायिका अपने मौलिक सतीत्व में प्रतिष्ठित हो उठती है और 'गबन' का नायक परिस्थितियों के विचित्र तर्क से पापी से

पुण्यात्मा सिद्ध हो जाता है, निर्मला अपनी प्रत्येक कृति का समर्थन खोजने में विफल पठको की करुणा की अभ्यर्थिका बन जाती है। और इसी प्रकार से एक ऐसे भावात्मक, नामाख्यहीन, अशरीरी तत्त्व की सृष्टि होती है, जिसे प्रेमचन्द आदर्श मानते हैं और वही पात्रों को अन्ततः पुनः लेखक की इच्छा पर नचने के लिए बाध्य करते हैं। यही प्रेमचन्द के उपन्यासों की सबसे बड़ी कमजोरी और सबसे बड़ी सार्थकता है। 'धृणा के प्रचारक' से लगाकर 'नोन-तेल-लकड़ी के लेखक' तक सब प्रकार की बातें उनकी कला को 'उपयोगितावादी' सिद्ध करने में कही गईं। फिर भी जन-जन के मन के वे लोकप्रिय कलाकार इसलिए बने कि प्रेमचन्द की समस्त पात्र-सृष्टि अन्ततः उनके युग के भाव-अभावों की स्वप्न-पूर्ति का माध्यम बनी। परिणामतः प्रेमचन्द के सभी पात्र साधारण हैं, अति साधारण। अतः उन्होंने जिस व्यक्तिवादी मनोविज्ञान का प्रश्रय लिया—उसमें केवल विश्लेषण तक ही उपन्यासकार सीमित रहा। प्रकाशचन्द्र गुप्त अपने लेख 'गोदान एक नजर' में कहते हैं—'शायद मध्य-वर्ग और उच्च-वर्ग के पात्रों में प्रेमचन्द छतनी सफलता न पा सके। इनको हम विलासी और अकर्मण्य ही पाते हैं। स्त्री का मन भी सदैव प्रेमचन्द नहीं समझ सकते। प्रेम के दृश्य तो उनके असफल से हैं। किन्तु नीच प्रामीण का हृदय भारत में गान्धी को छोड़कर प्रेमचन्द के बराबर कौन सम्झा सका है? होरी, भोला, गोबर, धनिया, सिलिया? प्रकाशचन्द्र जी ने अपने उसी लेख में प्रेमचन्द को मनोविज्ञान के कुशल आचार्य माना है और 'स्ट्रीम ऑफ़ कांशसनेश' के आचार्य फ्रायड को कहकर प्रेमचन्द का 'टेकनीक' वही है, ऐसी गोलमोल बात कह डाली है। अहमदअली ने कहा था कि 'प्रेमचन्द की सारी मानसिक क्रियाओं की प्रवृत्ति देश के परम दरिद्र निवासियों की ओर हो रही थी। परन्तु इसका अर्थ डा० रामबिलास की 'प्रेमचन्द' पर लिखी पुस्तक में जिस प्रकार उनमें वे खुद भी नहीं सोचते थे ऐसी प्रगतिशीलता के दर्शन करना नहीं। प्रो० अशफाकहुसैन ने कहा था कि प्रेमचन्द जी साम्यवादी तो थे, परन्तु उग्र और कट्टर साम्यवादी नहीं।' संक्षेप में, प्रेमचन्द जी हिन्दी-उपन्यासों में मनोवैज्ञानिकता लाने वाले प्रथम प्रमुख रचनाकार माने जा सकते हैं। परन्तु फिर भी मनोवैज्ञानिकता बहुत स्थूल अर्थ में प्रेमचन्द में प्रयुक्त मिलती है।

सन् १९३८ में 'बीणा' में 'तीन असर कलाकार' नामक एक लेख में मैंने प्रेमचन्द, प्रसाद और शरतचन्द का एक तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया था। प्रेमचन्द समय के लेखक थे, प्रसाद हृदय के—इस छोटे से सूत्र से मैंने उसमें दोनों के वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ दृष्टिकोणों का अन्तर व्यक्त किया था। प्रसाद के दो ही उपन्यास हैं—कंकाल और तितली। उनके नाटकों की भाँति इनमें भी सहसा-परिवर्ती घटना-चक्र, पात्रों का नाटकीय राग-विराग, एक-सी सम्भावण-शैली और काव्यात्म प्रकृति-वर्णन पाये जाते

है। प्रसाद के निकट समस्या एक ही है और वह है मानव का नियति-संघर्ष ! दुःख मौलिक है, तबतः उसकी दशा असम्भव है। सामाजिक विषमता में प्रसाद व्यक्ति के दुःख का कारण-सरणि नहीं खोजते। प्रेम-निराशा, नायिकाओं की अतृप्त लालसा, पात्रों के परस्पर त्रिचारों में पार्थक्य—यही इस दुःख का मूल कारण है। अतः समाधान कुछ नहीं है। समाधान बौद्धों की भाँति दुःख से समझोता कर लेना है। कहीं-कहीं धर्म-चर्चा भी हो जाती है। परन्तु कहीं भी (सिवा घंटी के) एक भी पात्र ऐसी स्पष्टता से कोई मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इकाई बनकर प्रसाद में सामने नहीं आता कि प्रसाद की शैली के मनोविज्ञान का कुछ निश्चित स्वरूप बतलाया जा सके। पात्र लेखक के 'मूड्स' में तैरते-उतराते रहते हैं—कहीं वे अत्यधिक प्रसन्न हैं, कहीं अत्यधिक चिन्तित। प्रसाद आधुनिक परिभाषा में बहुत कुछ बर्ताववादी मनोवैज्ञानिक की भाँति पात्रों के बाह्यान्तर आदि के विवरणपूर्ण वर्णनों में खो जाते हैं—उनके भीतर संघर्षों तक जैसे वे धीरज नहीं रख पाते। कतिपय कहानियों में और कामायनी में जैसा सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रसाद में मिलता है वैसा न तो उनके नाटकों में है और न उपन्यासों में ही। प्रसाद जी एक उच्चवर्गीय श्रीमान् कला-रसिक की भाँति भाषागत नक्काशी, व्यक्तिगत रूचि-अरुचि, दर्शन और प्राचीन इतिहास के ही चक्कर में इतने फँसे रहे कि उनका मनोविज्ञान रुद्ध, अतएव स्थिर रहा। प्रसाद के उपन्यासों में अन्य चमत्कार हों, परन्तु मनोवैज्ञानिकता में कोई विशेषता नहीं मिलती।

प्रकृतिवादी: (३) उग्र, (४) निराला और (५) भगवतीचरण वर्मा—वैसे तो कौशिक, चतुरसेन शास्त्री, ऋषभचरण जैन आदि कई उपन्यासकार माध्यमिक काल में हिन्दी में लिखते रहे, पर ऊपर दिये हुए कवियों के नाम उनकी अनोखी शैली के कारण विशेष उल्लेखनीय हैं। उग्र और निराला हरएक ने हिन्दी में आधा दर्जन उपन्यास दिये होंगे। दोजख की आग, बुधुआ की बेटी, चन्द हसीनों के खतूत, जीजीजी—ये उपन्यास मुझे इस समय याद आ रहे हैं। अपनी छलछलती, पेंती, व्यंगपूर्ण शैली में भावनाओं के उभार उभारकर रखने में उग्र जी लाजवाब हैं। परन्तु उन्होंने समाज के एक ही अंग पर अधिक बार-प्रहार किया है। पाठकों की रुचि वे बखूबी समझते हैं और पात्रों के मानसिक विकास में स्वयं बाधा बनकर नहीं खड़े रहते। अतः उनके कई पात्र अति भावुक हैं और मानसिक दृष्टि से रुग्ण होने पर भी उनका चित्रण अतिशय स्वाभाविक उन्होंने किया है। परन्तु अन्ततः विचारों में प्राचीन आदर्शों की मर्यादा की रक्षा अनिवार्य मानते रहने के कारण 'जीजीजी' में आधुनिक नारी के प्रति वे असहिष्णु हो उठे हैं। प्रेमचन्द का आदर्श यदि टालस्टाय था तो उग्र का आदर्श उन्हीं के शब्दों में महाभारतकार है। निराला महाकवि के नाते प्रसिद्ध है—उनके उपन्यास उतने

सफल नहीं। लिली, प्रभावती, निरुपमा, कुल्लू भाट, बिल्लेसुर बकरिहा आदि में अन्तिम कृत्तियाँ ( यदि उन्हें उपन्यास कहा जाय ) उत्तम व्यंगचित्र प्रस्तुत करती हैं । परन्तु कहीं भी पत्र को समग्रता से स्पष्ट रूप से वे सामने नहीं ला पाते । कुछ आधुनिकता का समर्थन उनकी रचनाओं में मिलता है । परन्तु न तो वैसी मनोवैज्ञानिक समस्या-विशेष हैं—न समाधान की ओर कोई विशेष प्रयत्न । वे अन्तर्द्वंद्व से प्रपीड़ित व्यक्ति की भाँति जल्दी-जल्दी में उपन्यास पूरा कर डालते हैं । नारी उनके निकट देवी है या मा ! बिना किसी मानसिक ग्रन्थि के वे मात्र नारी को नहीं सोच पाते । शैली काव्यात्मक होने के कारण कहीं-कहीं सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक छटाएँ मिल जाती हैं ।

उपर्युक्त दोनों लेखकों से भिन्न 'चित्रलेखा' और 'तीन बरस' का लेखक है । चित्रलेखा मुख्यतः समस्या उपन्यास है । पाप और पुण्य, वेश्या और सन्त, संयम और भोग, ज्ञान और आवेग, प्रेम और वासना, धर्म और अधर्म, श्रद्धा और नास्तिकता, स्वामित्व और सेवा, ब्रह्मचर्य और गृहस्थी का पद-पद पर संघर्ष इस छोटे से उपन्यास में उपस्थित है । संवादों में बड़ी कुशल तक 'मीमांसा' है । परन्तु लेखक का दृष्टिकोण अन्ततः स्पष्ट न होने के कारण अनातोल की थाया के प्रति जिस सहानुभूति से पाठक का मन बरबस भर आता है, वह चित्रलेखा के प्रति नहीं होता । चित्रलेखा में मनोवैज्ञानिकता लाने का लेखक ने बहुत सुन्दर प्रयत्न किया है—परन्तु वह वाद-विवाद से आगे नहीं बढ़ पाती । वह कथा की वस्तु को अन्दर से भरकर आगे नहीं ठेलती । अतः वह मनोवैज्ञानिकता बहुत ही कृत्रिम, काठ-खुदी-सी लगती है । 'तीन बरस' में इससे अधिक चतुराई से मनोवैज्ञानिकता का आश्रय लिया गया है । परन्तु फिर भी लेखक एक समाज शास्त्री की भाँति प्रश्नों को उठाकर उन्हें छोड़ देना चाहता है, उनकी तह में पहुँचने की कोशिश नहीं करता । उसका उन प्रश्नों के प्रति रुख एक अहंतापूर्ण कलाकार की तीव्र उपेक्षा का अधिक है बजाय एक मनोवैज्ञानिक के । अतः 'एक दिन' का गद्यपद्य बहुत गड़बड़ है । परस्पर विरोध में परस्पर विरोध के आनन्द के खातिर ही लेखक उलझता जान पड़ता है और यह मानसिक दशा बहुत स्वस्थ नहीं । जिस नयेपन के साथ भैंसागाड़ी के कवि ने प्रेम संगीत से अपनी कविता को मोड़ा था, वह गद्य में नहीं निबाहा गया । (इसके बाद 'टंढ़े-मेढ़े रास्ते' एक सफल कृति वर्मा जी ने दी) ।

(६) वृन्दावनलाल वर्मा और (७) राहुल सांकृत्यायन—यद्यपि दोनों व्यक्तियों के रचनाकाल और दृष्टिकोण में करीबन एक पीढ़ी का अन्तर है, फिर भी दोनों को साथ-साथ इसलिए लिया है कि दोनों ने ऐतिहासिक उपन्यास हिन्दी में दिये हैं जिनकी हिन्दी में बहुत कमी है । वृन्दावनलाल जी के 'विराट की पद्मिनी' और 'गढ़-कुण्डार' में प्रच्छन्न रूप से लेखक की मनसा पर जो अतीत के प्रति मोह है वही व्यक्त हुआ

है। 'कुण्डलीचक्र', 'लगन', 'कोतवाल की केरामात' आदि में कुछ सामाजिक दृष्टि से भी उपन्यास-रचना का प्रयत्न वर्मा जी ने किया है, परन्तु बावजूद 'विचार-विमर्श' में सद्गुरुशरण जी अवस्था की लगन की प्रशंसा के और 'हिन्दी के सामाजिक', उपन्यास नामक पुस्तक में पृ० १११ पर वर्मा जी को हिन्दी का शरच्चन्द्र कहने के, मुझे तो वृन्दावनलाल जी का पात्रों से अधिक घटनाओं को, उनके नाट्यात्मक प्रत्यावर्त्तनों को महत्त्व देना विशेष रुचा नहीं। ऐतिहासिकता उपन्यास में होने पर भी चरित्र-चित्रण कितना सफलता से हो सकता है यह राखाल बाबू के मूल बंगला 'शुशांक' 'कहरा', 'धर्मपाल' में, वा० ना० शाह की मूल मराठी और हिन्दी में अनूदित 'सम्राट अशोक' और 'छत्रसाल' में, क० मा० मुंशी की मूल गुजराती 'पाटणनी प्रभुता', 'पृथ्वीवल्लभ', 'लोपामुद्रा' आदि में पाया जाता है। वृन्दावनलाल जी अनावश्यक वर्णनों में स्काट की भाँति उतरते हैं, और पात्रों के मनोव्यापार गौण हो जाते हैं। फिर पात्रों की चर्चा होती है तो अति भावुकता से। पूरा उपन्यास कई घटनाओं के थेंगों का एक अद्भुत 'पैचवर्क' बन जाता है। प्रसाद जी के उपन्यास जिस दोष से असफल हैं, वृन्दावनलाल जी के उपन्यासों में भी वही सहसा-परिवर्ती खंड-खंड ने विकीर्ण, सामग्री का अभाव पाये जाने वाले पात्र मिलते हैं।

राहुल वृन्दावनलाल जी की अपेक्षा इस बात में अधिक कुशल हैं। 'सिंह सेनापति' और 'जय यौधेय' यह दो ही उपन्यास ऐतिहासिक भित्ति वाले हैं, 'जीने के लिए' और अन्य 'सोने की ढाल' आदि सामाजिक काल्पनिक हैं परन्तु सर्वत्र राहुल जी अपने जिस उद्देश्य को लेकर चले हैं उस दृष्टि से पात्रों को उभारने-सँवारने में उन्होंने कोई कोरकसर बाकी नहीं छोड़ी है। प्राचीन भारत के विषय में राहुल जी की अपनी धारणाएँ हैं (पुरातत्त्व और नृसंस्कृति विकास-विज्ञापन के आचार्यों में उस विषय में एकमत्य नहीं। परन्तु आदिम सभ्यता की पादर्वभूमि पर चरित्रों को उठाने में कहीं-कहीं राहुल अपने आधुनिक संस्कारों से अभिभूत होकर अनैतिहासिकताएँ कर जाते हैं, प्रचार और कला का मिश्रण उनकी सोद्देश्य रचनाओं में स्पष्ट परिलक्षित है। अतः पात्रों के मन में शायद ही राहुल जी कहीं गहरे उतरे हैं। वे परिस्थितियों के जाल को बड़ी ही सुदृढ़ परन्तु सूक्ष्म रेखाओं में पात्र के आसपास बुन देते हैं। परिणामतः पात्र उसमें एक ऐतिहासिक अनिवार्यता के तर्क से बढ़ता चलता है। मानो उस पात्र की परिस्थिति से ऊपर अपनी स्वतन्त्र प्रज्ञा अथवा प्रत्यभिज्ञा नहीं। वैज्ञानिक भौतिकवाद में राहुल जी का विश्वास अनजान में उनकी उपन्यास-कला को घोंटकर, उनमें से तत्त्व-जिज्ञासु के तीव्र पूर्व-ग्रहों को सामने ला रखता है। इतिहास गौण हो जाता है, उस पर लेखक के मंतव्य प्रधान। ऐसी अवस्था में मनोविज्ञान को, पर्याप्त अवकाश नहीं मिलता। राहुल के सभी उपन्यास एक प्रकार से नायिका-शून्य हैं। जीवन

के कर्म-पक्ष को प्रधानता देने के कारण पीत्रों का भावपक्ष कमजोर पड़ जाता है। अभी हिन्दी में अच्छे ऐतिहासिक उपन्यासों की आवश्यकता बराबर बनी हुई है। हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'बाण भट्ट की आत्मकथा' कुछ अंशों में इस अभाव की पूर्ति कर पायेगी ऐसी मुझे आशा है। परन्तु भारतीय इतिहास इतना बृहद् और विशाल है, लेखकों को उससे स्फूर्ति क्यों नहीं मिलती, यह आश्चर्य है।

(८) जैनेन्द्रकुमार और (९) सियारामशरण गुप्त—जैनेन्द्रकुमार के उपन्यासों में एक प्रकार से मनोवैज्ञानिकता, विशेषतः भारतीय नारी अन्तःकरण का एक बहुत ही सहानुभूतिपूर्ण चित्र मिलता है। 'शुतुर्मुर्ग पुराण' के लेखक ने जैनेन्द्र के सभी पात्रों को अतृप्त काम से पीड़ित और अन्य आलम्बनों द्वारा रति-भाव की पूर्ति करने वाले सिद्ध किया है। नन्ददुलारे बाजपेयी जी भी जैनेन्द्र के पात्रों को अस्वस्थ, अशरीरी, अस्वभाविक मानते हैं। अज्ञेय ने कल्याणी पर अपना मतव्य देते हुए उसकी नायिका में 'आत्म-प्रपीडन' भाव परिलक्षित किया है। किन्तु देवराज उपाध्याय और डा० देवराज ने जैनेन्द्र के पात्रों का अधिक सहानुभूति-पूर्ण विवेचन किया है। इन सब मतों के होते हुए भी जैनेन्द्रकुमार के उपन्यासों की मनोवैज्ञानिक दृष्टि से समीक्षा करनी होगी तब निस्संशय हिन्दी के घटना-प्रधान उपन्यास को पात्र-प्रधान बनाने का श्रेय उन्हें देना होगा। पात्र भी दो ही चार चुनकर, उनके अन्तर्द्वन्द्वों में पैठने की लेखक की शैली हिन्दी में अपने ढंग की एक है। और उनके बाद के सभी उपन्यासिकों ने कम-अधिक प्रमाण में उसे ग्रहण किया है। गांधीवाद में जैनेन्द्र जी को आस्था, उनमें के कलाकार को खा गई यह दृश्य स्पष्ट है। जो उनके पात्र रक्त मांस के थे आरम्भिक कथा उपन्यासों में, वे अन्तिम उपन्यासों में आकर अधिकाधिक निराकार, ज्यामिती की आकृतियों की भाँति काल्पनिक और प्रमेयों को सिद्ध करने की सुविधा की दृष्टि से केवल अंकित, जान पड़ने लगे हैं। परिणामतः उनमें का मानवीय अंश कम होता जाकर चिन्तन के प्रतीक मात्र बचे रहते हैं। जब लेखक अपनी चिन्ताधारा को स्पष्ट करने के हेतु पात्र बनाता-बिगाड़ता है, तब उसमें मानवीय यथातथ्य, स्वाभाविकता की कसौटी से वास्तववाद को ढूँढ़ना व्यर्थ होगा। कल्याणी पढ़कर मैंने जो पत्र जैनेन्द्र जी को लिखा उसमें उस पत्र के 'एबनार्मल' होने का जिक्र था—जैनेन्द्र जी ने उत्तर में लिखा 'वैसे आज नाम पर कौन है? नाम ही कहाँ निश्चित है?' 'सुनीता' और 'त्याग-पत्र' में रढ़ नीति मूल्यों को जो चुनौती है वह मनोविश्लेषण के मोह में पड़कर लेखक ने कल्याणी में आकर जैसे मन्द कर दी है। इस बीच में 'प्रस्तुत प्रश्न' का सभी प्रश्नों को अहिंसा की मार्फत से देखना शुरू हो गया है और मनोविज्ञान अध्यात्म की कुहेलिका में अवैज्ञानिक हो गया है। अब जैनेन्द्र कोई उपन्यास कभी लिखेंगे इसमें भी बहुत शंका है। उनमें



की सृजन-शक्ति अब जैसे दूसरे मार्गों में उपन्यास-कला की दृष्टि से कहें तो 'बहुक' गई है। नेता जैनेन्द्र ने कथाकार जैनेन्द्र खो दिया है।

गांधीवाद के प्रबल संस्कारों के दूसरे उल्लेखनीय औपन्यासिक है सियाराम-शरण गुप्त ! उन्होंने कवि की आत्मा पाई है, अतः वे जैनेन्द्र की भाँति दार्शनिकता के फेर में इतने जल्दी खो नहीं जाते। रस की सृष्टि उनके निकट अधिक सार्थ है, बनिस्वत ब्रह्म जिज्ञासा के। परिणामतः उनके दो ही उपन्यास 'देखन में छोटे लगे, घाव करत गम्भीर' हैं। 'नारी' और 'गोद' में एक ग्रामीण स्त्री जमन की पति-भक्ति का पुत्र में केन्द्रित होना और गोद में दो भाई दयाराम और शोभाराम के भ्रातृ-प्रेम के बीच में पार्वती के मातृत्व-भाव का एक परस्पर-बन्धक का काम करना बहुत ही सुन्दर शैली से चित्रित है। जहाँ जैनेन्द्र के पात्रों का मनोवैज्ञानिक निरूपण कुशल सम्बादों द्वारा होता है, वहाँ सियाराम जी की रचना में संयमित प्रसंगों का चुनाव, अन्य पात्रों का प्रधान पात्रों से सम्बन्ध तथा स्थल-स्थल पर दी हुई अकारण उपमाओं द्वारा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किये गये हैं। जैनेन्द्र जी ने अहिंसा अथवा अनासक्ति को उसके अतिवादी छोर तक एक कठोर तार्किक की भाँति पहुँचाया है। परन्तु सियाराम जी ने अपने पात्रों को सर्वत्र स्वाभाविकता की मर्यादा में संरक्षित रखा है। अतः कहीं भी वे ग्रामीण आदर्शों को अतिक्रमित नहीं करते। सुनीत के हरिप्रसन्न के सम्मुख विवस्त्र होने या कल्याणी के या बुआ के जीवन के अन्तिम भागों में सामाजिक दृष्टि से अवर्णित होने की जो असाधारण परिस्थिति जैनेन्द्र उपस्थित करते हैं, सियाराम जी के उपन्यासों में वैसी स्त्री-सामने अपने अती ही नहीं। सियाराम जी नारी-सृष्टि वैसी आवेगों से आविष्ट नहीं, और न ही पुरुष पात्र अन्तर्द्वंद्वों से प्रपीडित। जैनेन्द्र जहाँ मनोविश्लेषक हैं, सियाराम जी रुढ़ समाज-मर्यादा में व्यक्ति की मानसिक दुर्बलताओं का बहुत सुन्दर चित्र उपस्थित करते हैं। अतः संघर्ष जैनेन्द्र का प्रिय विषय है। रुढ़ आत्मा की विद्रोही छटपटाहट, असन्तोष और घुमड़न से उपजी तकलीफ का चित्रण उन्हें कहीं-कहीं दस्तोवस्को के निकटतम पहुँचा देता है। परन्तु सियाराम जी की नारी टालस्टाय की अन्ना की भाँति है। उसके भीतर एक दृढ़, अटूट आस्तिकता है। अतः संघर्ष होता भी है तो भावनाओं के ही बीच में, भाव और बुद्धि, विकार और विचार के बीच में नहीं। दोनों की शैली पर शरद् बाबू का प्रभाव है—चरित्र के प्रति दोनों ही करुणा-कातर हैं—प्रेमचन्द की भाँति चरित्रहीन को किसी भी उपाय से चरित्रपूर्व सिद्ध करने की चिन्ता में व्यर्थ नहीं और न ही उप या नागर की भाँति उसके प्रति व्यंग-वितृष्णा से क्रुद्ध या भुंभलाहट से भरे।

(१०) अज्ञेय और (११) इलाचन्द्र जोशी—अज्ञेय के 'शेखर' के केवल दो ही भाग अभी प्रकाशित हुए हैं। और पता नहीं—तीसरा भाग क्या और

हो ? प्रथम भाग से जितना मुझे सन्तोष हुआ था दूसरे भाग से उतना ही भुँभुलाहट । प्रकाशचन्द्र गुप्त ने 'विशाल भारत' में, अमृतराय ने 'हंस' में और नगेन्द्र ने 'साहित्य-सन्देश' में शेखर की विस्तृत सुन्दर आलोचनाएँ लिखा हैं । यहाँ प्रयोजनीय है शेखर के मनोविश्लेषण में लेखक का दृष्टिकोण । स्पष्टतः शेखर जिस परिस्थिति में आत्मालोचन कर रहा है वह साधारण नहीं है । शेखर व्यक्ति भी साधारण नहीं है । वह प्रकाशचन्द्र जी के शब्दों में चाहे 'अनारकिस्ट' हो चाहे इलाचन्द्र जी के शब्दों में घोर अहंवादी या नरोत्तम नागर के शब्दों में यातना का दर्शन प्रचारित करने वाला । हरिप्रसन्न turned inside out या नगेन्द्र के शब्दों में एक प्रच्छन्न हेतुवादी या नियति विश्वासी—यह निश्चित है कि शेखर एक बहुत ही उत्तम कलाकृति है जिसमें मन की बारीक-बारीक हलचलों के 'स्नेपशॉट्स' संगृहीत हैं । एक प्रामाणिक मनोविश्लेषणवेत्ता की भाँति शेखर अपने गत जीवन की महत्ता प्रेरणाओं का, आवेगपूर्ण क्षणों का उसके उद्धृत, घृणाविश्वासी एतादृशत्व को उलट देने वाले क्रान्तिकारी व्यक्तित्व का निर्माण जिन हथौड़े-छेनियों की चोटों से हुआ है उन सबका रसपूर्ण स्मरण करता है । परन्तु केवल सिंहावलोकन शायद शेखर का अभिलषित नहीं है । उस सिंहावलोकन की ओट में वह एक प्रखर बुद्धिवादी के नाते आत्म-विश्लेषण और साथ ही युगीन संघर्षों का भी दर्शन करना चाहता है । मैं अपने गत लेख के अन्त में दावा चुका हूँ युगीन संघर्षों के दर्शन का दावा गलत है । दो भागों के हजार-डेढ़ हजार पृष्ठों में एकाध जगह ट्राट्स्की-स्तालिन तुलना, अमृतसर में भक्त दे' चिल्लाने वाले पंजाबी, आतङ्कवादी आन्दोलन के सेनापति आज़ाद की दूसरे भाग के अन्त में भाँकी, कांग्रेस में 'बल्लनटोरी' और जेल—ये कुछ स्थल छोड़कर बाह्य आर्थिक-राजनैतिक जीवन के उत्थान-पतन का कहीं भी वर्णन नहीं है । सभी पात्र उच्च भद्र-वर्ग के हैं । शायद अत्ती और जेल के पागल को छोड़कर कहीं भी सर्व-साधारण निम्न स्तर की जनता या जीवन का उल्लेख नहीं है । फलतः सभी पात्र एक 'सोशलवैक्यूम' में तैरते रहते हैं । एक स्थल पर शेखर अवश्य कुछ जीवन-संघर्ष में पड़ा हुआ दिखाई देता है, परन्तु वह बहुत थोड़े से समय के लिए । परिणामतः शेखर के मन के जो कुछ भी संघर्ष या द्वन्द्व हैं वे शेखर के अपने असामान्य होने के कारण असामान्य प्रश्न हैं—सर्वसाधारण के नहीं हैं । मैंने 'स्वतन्त्र' साप्ताहिक (भाँसी) में एक लेख 'उपन्यासों के वे क्रान्तिकारक नायक' शीर्षक से (२ मई, १९४३) लिखा था जिसमें शरद् बाबू के 'श्रीकान्त' के इन्द्रनाथ, 'पथ के दावेदार' के डा० सव्यसाची, रवीन्द्रनाथ के 'चार अध्याय' के अतीन, 'घरेबाहरे' के सन्दीप, वि० स० खांडेकर की 'उल्का' के चन्द्रकान्त, जैनेन्द्र के हरिप्रसन्न, यशपाल के दादा कामरेड और अज्ञेय की शेखर की एक परिहृंसमय काल्पनिक संवाद के रूप में नारी-प्रेम, क्रान्ति,

देश-प्रेम और मृत्यु के सम्बन्ध में इन विभिन्न पात्रों के विचारों को उपस्थित किया था। मेरा निष्कर्ष था कि शेखर बहुत कुछ असामाजिक है और इस कारण से वह क्रान्ति-नेता नहीं बन सकता।

इलाचन्द्र जोशी के 'धृष्णामयी' से 'सरस्वती' से धारावाहिक चलने वाले 'निर्वासित' तक के उपन्यासों में अज्ञेय की ही भाँति एक व्यक्तिवादी कलाकार के दर्शन होते हैं। अज्ञेय यदि फ्रायड की धारणाओं से अधिक प्रभावित है तो इलाचन्द्र जी युग के (देखिये विजनवती की भूमिका और साहित्य-सर्जना में शरच्चन्द्र पर लेख) युग भारतीय अध्यात्मवादियों के बहुत निकट आता है चूँकि वह एक रहस्यात्मक चिर-उपस्थित सर्वान्तरात्मा में विश्वास करता है। परन्तु 'पदों की रानी' और 'प्रेत और छाया' में लेखक का मौन विकृतियों पर अटकना पुनः उसी असामाजिकता में लेखक को डाल देता है, जिसका एक रूप अज्ञेय में है। संन्यासी इस दृष्टि से इलाचन्द्र का सबसे सफल उपन्यास है। भारी शैली की कुछ अस्वाभाविकता छोड़कर उसमें लेखक अपने प्रतिपाद्य के प्रति मनोज्ञावैयक्तिक दृष्टि से बहुत सचेष्ट और जागरूक है। यदि अज्ञेय उद्धृत अहं के चित्रण में सफल है तो इलाचन्द्र आहत अहंशून्यता के। उनके पात्र हीन-ग्रन्थि से पीड़ित हैं। अतः वे कई स्थलों पर अनावश्यक कड़ोंस और अनास्था व्यक्त करते चलते हैं—जो कि आधुनिक युग का एक अवश्यम्भावी अभिशाप है। क्या ही अच्छा होता यदि ये पात्र अपनी भुँभलाहट कुछ व्यापक सामाजिकता पर भी उँडेल देते।

साम्यवादी दल : (१२) यशपाल (१३) अञ्जल और (१४) कृष्णदास—  
यशपाल ने जितना अच्छा लिखा है, उतना ही उस पर बहुत कम समीक्षा रूप में कहा गया है। यशपाल के दो उपन्यास हैं—दादा कामरेड और देशद्रोही। दूसरा पहले से अपेक्षाकृत अधिक सफल है। पहले में रोमांस और साम्यवाद घुलमिल नहीं पाये हैं। दूसरे में वे दोनों एकात्म हो गये हैं। पहला उपन्यास शरद बाबू के डा० सव्यसाची के आदर्श के कारण अतिरंजित चरित्र के उत्तर में गढ़ा गया। शेखर द्वितीय भाग के अन्तिम अंशों में जिस सेनापति की रहस्यमयी हलचलों का उल्लेख है, दादा कामरेड का भी मूलाधार वही व्यक्ति जान पड़ता है। परन्तु दादा कामरेड का पुनः उतना ही कठोर आदर्श और मानवोपरि हो गया है जितना डा० सव्यसाची का। यशपाल की शैली बहुत आकर्षक है। प्रेमचन्द के बाद यशपाल में उतने ही यथार्थवादी आकर्षक, सजीव वर्णन मिलते हैं। देशद्रोही में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बहुत सफल कथा है। यशपाल के सभी नायक (तर्क का तूफान कहानी संग्रह भी देखिए) दुर्बल होते हैं। नारी, सबल बन जाती है। शैल और चन्दा इसी प्रकार की सृष्टि हैं। जो कि शरच्चन्द्र की आभा और कमला की बड़ी बहनों मात्र जान पड़ती हैं। यशपाल की

कला में सबसे खराब अंश वह है—जहाँ वह एक सतर्क प्रचारक की भाँति पात्रों के मुँह से वही बलवाते हैं जो कि उन्हें ईप्सित हैं। परिणामतः पाठक के मन में यह भाव पैदा हो जाता है कि हमारे साथ कोई गहरी साजिश की जा रही है। उपन्यास राजनैतिक उद्देश्य को लेकर लिखे न जायँ, यह मेरा मत नहीं, परन्तु उपन्यास में प्रचार बहुत अप्रत्यक्ष और अज्ञातरूप में हो। देशद्रोही में यह बहुत ही अधिक उग्र और स्पष्ट रूप में हुआ है। टण्डन को यह उपन्यास पसन्द आने का कारण भी यही है। मैं आशा करता हूँ कि इतनी लुभावनी, सरस शैली के साथ यशपाल अपनी अगली कृतियों में इस सम्बन्ध में अधिक फिक्रमन्द रहेंगे। आज के सभी औपन्यासिकों में निस्संशय उनका भविष्य उज्ज्वलतम है क्योंकि मनोवैज्ञानिकता के लिए वे अन्य लेखकों की भाँति खींचतान नहीं करते—सीधे अपनी बात कह जाते हैं जिसमें मनो-वैज्ञानिकता अपने आप व्यक्त हो जाती है। खन्ना का चित्रण इस दृष्टि से हिन्दी में अभूतपूर्व है। मुल्कराज आनन्द के चरित्र जैसे जीवित, सामाजिकता लिये हुए और स्पष्ट होते हैं, यशपाल भी अपनी कुशल तूली से दो-चार रंगों में सधे हुए हाथों से चुनी हुई रेखाओं में काफी बड़ा कमाल उपस्थित करते हैं। यशपाल का दूसरा दोष अनावश्यक विस्तार और पुनरावृत्ति है। शौकत उस्मानी की एक किताब है 'चार पात्री' और देशद्रोही के खन्ना का वजीरोस्तान से स्टालिनाबाद होते हुए रूस जाना यह वर्णन 'चार-यात्री' से तौलकर देखने लायक है। शौकत उस्मानी अधिक प्रभाव-शाली हैं यद्यपि उनके चित्र सम्पूर्ण नहीं हैं। यशपाल 'डीटेस' देने जाते हैं और जैसे उसी में अटक जाते हैं।

'अंचल' का हाल ही में एक उपन्यास 'चढ़ती धूप' प्रकाशित हुआ है जो कि इसी सभ्यवादी परम्परा का उपन्यास है। परन्तु 'अंचल' बाबजू उनके कवि होने के नाते अनावश्यक भावुकतापूर्ण वर्णनों, तूल दिये हुए अन्त रूखे बहुस-मुवाहतों से भरे संवादों और भाषा के अटपटे प्रयोगों के तारा के चित्रण में सफल हैं। मनना में पुनः वही भारतीय औपन्यासिक नारी के प्रति 'अधिक स्वप्न, तुम अधिक कल्पना' वाला देवी भाव व्यक्त हुआ है। फिर भी नायक का मजदूरों में जाकर रहना और वहाँ के जीवन बहुत-कुछ यथार्थ के निकट है। मध्य वर्ग के पात्र के संस्कारों के साथ न्याय किया गया है और चरित्र-चित्रण में काफी मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता से काम लिया गया है। परन्तु फिर भी उपन्यास अच्छा होते हुए भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उसमें कई भूल रहे हैं—मोहन का चित्रण स्वाभाविक नहीं हुआ है। अन्त में जहाँ मूर्च्छाधीन नायिका के मन का चित्रण है—उसमें कई.....का प्रयोग करने पर भी अनावश्यक संगति और अस्वाभाविक तर्कयुक्तता बतलाई गई है। परन्तु 'अंचल' के अगले उपन्यास अधिक प्रखर होंगे यह 'चढ़ती धूप' से पता चलता है।

श्रीकृष्णदास के दो उपन्यास छपे हैं। जिसमें से एक 'अग्निपथ' मने देखा है। इसमें भी कहीं मजदूर-जीवन को पार्श्व-भूमि मानकर रमेश, प्रेम, लुई, रेखा, सोना के चित्र प्रस्तुत किये गये हैं। परन्तु 'अंचल' की भाँति इस लेखक का, मजदूर-जीवन से प्रत्यक्ष निकट सम्पर्क का अभाव तो नहीं जान पड़ता—परन्तु फिर भी अन्तिम भागों में साम्यवादी दल की राजनैतिक गतिविधि का व्यौरा बहुत ही हानिकारक हो गया है। पुनः पात्र ऐसे चलते-फिरते हैं मानों किसी नशे से परिचालित। उनके और भी कोई मानवोचित आवेग-प्रवेग, आकर्षण-विकर्षण हैं—यह सब कुछ मनो लेखक ने भुला दिया। प्रचार ने कला की हानि कर दी है। फिर कलाकृति में पहले कला अपेक्षित है—न कि प्रचार। प्रचार भी किस बात का किया है यह सब कुछ स्पष्ट नहीं होता। 'अग्निपथ' में रोमांस और राजनीति अनधुन रूप में गड्ढा-मड्डा की गई है। फलतः मनोवैज्ञानिक दृष्टि से पात्रों में नाटकीय परिवर्तन होते जाते हैं। रमेश और रेखा उन सब पात्रों में बहुत सजीव हैं परन्तु उपन्यास में 'यूनिटो' नहीं आ पाई है। मनोविज्ञान मन की एकात्मा को पहले चाहता है।

नये प्रकृतिवादी—(१५) पहाड़ी (१६) नरोत्तमप्रसाद नागर—श्रीकृष्णदास के 'अग्नि-पथ' की रेखा की अपेक्षा पहाड़ी के सराय की नायिका-रेखा अधिक सशक्त, स्वस्थ और सजीव है। वह बृद्धदेव बसु की 'आनन्दा' के स्थान में अनेक प्रेमियों को अपनी ओर आकर्षित करती है। पुरुष की काम, प्रेम, वासना-आकर्षण आदि यौन-प्रवृत्ति की विभिन्न छटाओं का बहुत सुन्दर चित्रण पहाड़ी की उपन्यास तथा कहानी-कला में मिलता है। परन्तु मनोविज्ञान पर अधिक जोर देने से कारण अनूपलाल मण्डल की मीमांसा की आलोचना 'विशाल भारत' में करते हुए जैसे मने कहा था—मनोविज्ञान साधन है, साध्य नहीं—यह बात पहाड़ी भूल जाते हैं। कई स्थलों पर मार्मिक मनोविवेचन मिलता है, वह वैज्ञानिक सामाजिकता को लिये हुए है। उदाहरणार्थ प्रेम के सम्बन्ध में सराय पृ० २४०-२४७ पर यह मन्तव्य—यह प्रेम एक लाटरी वाला जुआ स्वीकार किया जा रहा है। वह खेल भी अन्त में भाग्य की पक्की दीवार पर टकराता है। नारी का अस्वस्थ रूप और उसके विचित्र हाव-भावों के लिए समान उत्तरदायी है। वह व्यक्ति नहीं। परिवार बढ़ता चला गया। कुछ पुराने विचारों की मजबूत कड़ियाँ नहीं टूट सकीं। समाज और फैला। वे कीलें उसी भाँति रहीं और अन्त में परिवार जीरा होकर उन कीलों में भूलने लगे। कई परिवारों वाला समाज विचारों में अतीत की बुवाई देता रहा ..... आदि आदि।

प्रथम प्रकृतिवाद उक्रान में सुधार का जोश था। 'उग्र' ने चाकलेट पर लिखा, चाकलेट-प्रथा मिटाने के मसीहा के आवेश में। वैसे ऋषभचरण और चतुरसेन ने वैश्या-जीवन पर लिखा। जनेन्द्र की मृणाल कुशा वैश्यात्व के प्रति जैसे हमारी

सहानुभूति को खींचने में लगी रही और हमारे पाप-पुण्य के बाट ही गलत बताने लगी। पहाड़ी ने बहुप्रेमिपुत्र और बहुपतीत्व को समाज की एक स्वीकृत नदय (एक्सप्लेड फैंट) की भाँति लिखा। नरोत्तम नागर ने एक क्रदम आगे जाकर यह बतला दिया कि देशभक्त और देशभक्तिन सोभा और कोतवाल, शशि और आशा—निम्नमध्यवर्ग के ये आदर्श-लोनूप अस्वस्थ मन के कीड़े एक-न-एक प्रकार से मानसिक वेद्या-व्यवसाय में ही लगे हुए हैं। 'दिन के तारे' अस्वस्थ, रुग्ण मन के पात्रों का अध्ययन प्रस्तुत करता है। इलाचन्द्र जोशी के पात्र यदि एक प्रकार की अस्वस्थता से प्रपीडित हैं तो नागर के दूसरी। नागर के पात्रों की सफाई में इतना कहा जा सकता है कि उनकी अस्वस्थता समाज-निर्मित है, व्यक्ति की स्वयं-निर्मित नहीं। पंजी व्यंग्यात्मक शैली के कारण नागर का यह अकेला उपन्यास नव्य-प्रकृतिवादियों की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण वस्तु है। आज के कृत्रिम समाज-जीवन और विषमताओं ने ऐसी गुत्थियाँ और झमेले हमारी जिन्दगी में पंदा कर दिये हैं कि जो नागर के मत से सुलभ नहीं सकतीं। अतः उन पर हँसना यही एक मात्र उपाय बाकी है। उपाय कछुआ है परन्तु यह भी एक खल है।

इस दल के लेखकों ने जहाँ समाज के वर्जित प्रदेश का यथार्थवादी रोमांस उघाड़कर एक और समाज का हित किया है, वहीं असलोल होने की बदनामी सहकर भी एक अनहित किया है। कला के क्षेत्र को अति वैज्ञानिक बनाकर उन्होंने उसकी सामाजिक उपयोगिता को मर्यादित कर दिया है। एक किशोर या किशोरी के हाथ में इनकी पुस्तक अनाश्वस्त भाव से ही दी जा सकती है।

(१७) अन्यः सर्वदानन्द वर्मा, ऊषादेवी मित्रा, उपेन्द्रनाथ 'अशक', भगवतीप्रसाद वाजपेयी आदि—अब अन्त में बचे रहते हैं कुछ ऐसे औपन्यासिक जिनका अपना मत विशेष नहीं है, जो संदेश्य रचना नहीं करते और न ही वे किसी 'वाद' में बांधे जा सकते हैं। 'नरमेध', 'प्रश्न', 'अनिकेतन' के लेखक सर्वदानन्द समाजवादी वर्ग में आ सकते हैं। पात्रों को वे काफ़ी तीखे संघर्ष में डालते हैं, परन्तु उन गुत्थियों में से उन पात्रों का विस्तार नहीं होता। वे जैसे उन्हीं प्रश्नों में खो जाते हैं। इस दृष्टि से कवि की भावुक आत्मा उपन्यास-लेखक पर हावी हो जाती है। करीब-करीब यही स्थिति भगवतीप्रसाद जी वाजपेयी की है। परन्तु वे कथा का सुन्दर आधार देते हैं, अतः घटनाएँ अपने आप में स्पष्ट हो जाती हैं। उनके पात्र अक्सर दार्शनिकों की भाँति बातें करते रहते हैं। कई स्थलों पर वे अस्वाभाविक जान पड़ते हैं। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के चक्कर में दोनों ही लेखक नहीं पड़ते—सामाजिक विषमता से ग्राहत व्यक्ति के दुख-दर्दों को मुखर करना ही उनका प्रधान उद्देश्य है। तीसरे प्रगतिशील लेखक हैं उपेन्द्रनाथ 'अशक'। आपके भी एक ही दो उपन्यास प्रकाशित हुए हैं—परन्तु उनमें नारी-चरित्रों का अच्छा अध्ययन है। यथार्थ और आदर्श के संघर्ष की

उद् कथा-लेखक कृष्णचन्द्र की ही भाँति 'अशक' भी पैनी दृष्टि से व्यंग्य द्वारा उद्भासित करते हैं। तीनों लेखकों में 'अशक' के पात्रों के मन का चित्रण अधिक वैज्ञानिक है।

हिन्दी की एक मात्र उपन्यास-लेखिका हैं सुश्री ऊषादेवी मित्रा। 'वचन का मोल', 'पिया' और 'जीवन की मुस्कान' इन तीनों उपन्यासों में आधुनिक नारी का पक्ष उन्होंने सबल तर्कों से सामने रखा है। परन्तु प्रसाद और निराला के उपन्यास-लेखन की ही भाँति ऊषादेवी भाषा की नक्काशी में काव्यात्मक शैली में कुछ इस प्रकार खो जाती हैं कि पात्र स्पष्ट रूप से सामने नहीं आ पाते। उनका प्रथम उपन्यास तीनों में सर्वाधिक सफल है। कजली का चरित्र-चित्रण मनोवैज्ञानिक दृष्टि से निरूपण है। शरच्चन्द्र की आत्म-पीड़क नायिकाओं को ऊषादेवी की पिया की चाबुक वाली नायिका का खासा उत्तर है। परन्तु फेमिनिज्म अतिवाद है।

आज के हिन्दी उपन्यासकार की स्थिति की झलक, बहुत कुछ 'सहित्य-सन्देश' के उपन्यास-अंक के अन्तिम अंश लेखकों की आपबीती से चुने गये निम्न वाक्यों से मिल सकती है। मानो हिन्दी का औपन्यासिक कहता है—

जीवन की प्रमुख घटनाएँ—कोई खास नहीं। सिन्दगी मेरी विचित्र परिस्थितियों के भीतर बीती हैं और बीत रही हैं। १९२६ में एक उपन्यास गंगा पुस्तकमाला से प्रकाशित हुआ जो असफल उपन्यास रहा। बहुत अधिक कमजोरी का अनुभव कर रहा हूँ, लिखने के लिए मुझे सबसे अधिक प्रेरणा सम्भवतः अपनी बीमारी से मिली है। उपार्जित जमींदारी तथा शहरी जायदाद के कारण यहीं बस जाना पड़ा, इसके अतिरिक्त मेरे जीवन में अन्य कोई उल्लेखनीय बात नहीं। मैंने पढ़ा कम है, खेला बहुत है। मैं भारत के अनेक समर्थवान् धनीमानी भाइयों के द्वार खट-खटाकर चुप हो बैठा हूँ। मेरी अब एक ही अभिलाषा है कि मैं संसार का सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार होकर मरूँ। मेरा जीवन ही स्वयं इतना अर्थ, इतना करण है। मैं सदैव से ही दुस्साहसिक रहा हूँ। भगवान् पर मेरा अटूट विश्वास है। कोई मुझ से पूछे कि जीवन का लक्ष्य क्या है, तो मैं कहूँगा—जीवन इस दृष्टि से देखा जाय तो हिन्दी का आधुनिक उपन्यास-साहित्य अभी कुछ नहीं है। लेखक वह है जो सौ फ्रीसदी सच्चा आदमी नहीं है।

उपसंहार—पं० रामचन्द्र शुक्ल ने संवत् १९६२ में इन्दौर में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की साहित्य-परिषद् से भाषण देते हुए कहा था—“पर मेरा एक निवेदन है। इधर बहुत से उपन्यासों में देश की सामान्य जीवन-पद्धति को छोड़ बिल्कुल यूरोपीय सभ्यता के साँचे में ढाले हुए छोटे-से मनुष्य-समुदाय के जीवन का चित्रण बहुत अधिक पाया जाता है। मिस्टर, मिसेज, मिस, डाइंग-रूम, टेनिस, मोटर पर हवाखोरी, सिनेमा इत्यादि ही उपन्यासों में अधिक दिखाई पड़ने लगे हैं। मैं मानता

हैं कि आधुनिक जीवन का यह भी एक पक्ष है, पर सामान्य पक्ष नहीं। देश के असली, सामाजिक और गार्हस्थ्य-जीवन के जैसे चित्र पुराने उपन्यासों में रहते थे वैसे अब कम होते जा रहे हैं। यह मैं अच्छा नहीं समझता। उपन्यास के पुराने ढाँचे के सम्बन्ध में मैं एक बात करना चाहता हूँ। वह यह कि वह कुछ बुरा न था। उसमें हमारे भारतीय कथात्मक गद्य-प्रबन्धों के स्वरूप का भी आभास रहता था। (पृष्ठ १०६-७)

शुक्ल जी सदा एक पुरातन-पुनरुज्जीवक (रिवाइवलिस्ट) के रूप में सामने आते रहे। उपर्युक्त अवतरण के अन्तिम अंश से असहमत होते हुए भी प्रथम अंश से बाद भी यही कोई भी अपना अभिन्न मत ही बनावेगा। सचमुच ऊपर की लम्बी-चौड़ी छानबीन से जान पड़ता है कि चाहे समाज-विज्ञान हो या मनोविज्ञान, वह हमारे साहित्य की आन्तरिक आवश्यकताओं से पनपकर ऊपर आना चाहिए—न कि केवल बाह्य, विदेशी आये हुए, जीवन से विच्छिन्न, अनमिल वस्तु के रूप में। इस दृष्टि से प्रेमचन्द के बाद भारतीय जनता के मनसा में प्रवेश कर उसके स्तर पर स्तर खोलने वाला महान् प्रतिनिधिक औपन्यासिक हिन्दी में अभी नहीं है, यही कहना पड़ेगा। साहित्य के इतिहास के साथ-साथ मनोविज्ञान के इतिहास में भी संशोधन होते गये। पहले जमाने का स्थितिवादी, मन को विभिन्न तहखानों में बाँटने वाला 'फ्रेड्' मर्नोविज्ञान जाकर व्यक्तिप्रधान मनोविज्ञान आया। बाद में 'चेतना-प्रवाह' वाद चला, फिर अवचेतन के काम-प्राधान्य का फ्रायड-पन्थ चला। उसे पुनः एडलर और युंग ने अपने-अपने तरीके से संशोधित किया। आवेग-प्रधान और सामाजिक मन-प्रधान वाद चल पड़े। बरताववादी उधर अलग मन को घसीटकर शरीर-शास्त्र का अंग बनाने की फिक्र में हैं। और आत्मा केवल कुछ संवेदनाओं के पूर्व-परिचालित उत्तेजना-उत्तर-संघातों की व्यवस्था-मात्र बना दिया गया है। फिर भी अभी संशोधन चल ही रहे हैं। किसी निश्चित कसौटी पर मनोविज्ञान पहुँचा नहीं है। साहित्य के प्रगतिशील (प्रधानतः मार्क्सवादी) आलोचक मनोविज्ञान पर अधिक आश्रित साहित्य को अस्वस्थ और वर्गीय विषमता के साथ से पलायन करने वाला केवल बुद्धिवादी साहित्य मानते हैं। काडवेल फ्रायड पर अपने निबन्ध में कहता है कि एक जमाने में लोग राम-नाम (या ईश्वर) में जाने का प्रयत्न कर रहे थे। अब उसके बजाय 'लिबिडो' आ गया है। मगर राबर्ट आस्बर्न ने अपनी बहुत ही मार्मिक पुस्तक 'फ्रायड और मार्क्स' में इस तथाकथित प्रगतिवादी अर्थसत्य का विरोध करते हुए सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि कंसे दोनों चिन्तकों के मन परस्पर पूरक थे। अस्तु उस विवाद में न पड़कर प्रश्न यहाँ इतना ही है कि हिन्दी उपन्यासों में श्री पं० रामचन्द्र शुक्ल जी की प्रिय शब्दावली में अन्तःप्रवृत्ति या शील-वंचिष्य के उत्तरोत्तर विकास, उद्घाटन के कई प्रयत्न हिन्दी के आधुनिक उपन्यासों में हुए हैं। परन्तु सभी सफल नहीं बहे जा सकते।



‘हिन्दी के सामाजिक उपन्यास’ (आधुनिक) हिन्दी-उपन्यासों पर शायद एक मात्र आलोचनात्मक पुस्तक (जो कि बहुत ही ऊपरी-ऊपरी और असन्तोषजनक है) के अन्तिम पृष्ठ पर लेखक की शिकायत थी ‘हिन्दी में उद्देश्य-प्रधान उपन्यासों की कमी नहीं।... उद्देश्य को चरित्र-चित्रण के रूप में सरसतापूर्वक बहुत ही कम उपन्यासों में व्यक्त किया गया है।’ (पृ० १४८)। इस पुस्तक को लिखे छः वर्ष हो गये। अब इस शिकायत के लिए इतनी गुंजाइश नहीं रही। संन्यासी शंकर देशदोही, चढ़ती धूप ने बहुत-कुछ इस कमी की पूर्ति की है। परन्तु अब उल्टे यह कहने का प्रसंग आया है कि हिन्दी के घटना-प्रधान उपन्यास पात्र-प्रधान तो बने परन्तु वे इतने अधिक कि उपन्यासकार पात्र से बाहर की जगत्-जीवन और जड़-सृष्टि के प्रति मानो अपनी प्रामाणिकता या सजीव-संस्पर्श खो बैठे। अब इस बात की आवश्यकता है कि उपन्यास में सामाजिक मन का निरूपण हो। जैसे कि युद्धकालीन पश्चिमी उपन्यासिकों ने किया है। सहनबुर्ग का ‘पेरिस का पतत्र’, बरसिलेवस्का का ‘पृथ्वी और आकाश’, वासिली ग्राममैन का ‘जनता अजेय है’, लिनपूतांग का ‘आंधी में एक पत्ता’, सिल्वेयर का ‘नो पासारान’ या सिलेपे का ‘फोटामारा’—इन्हें केवल प्रचारक उपन्यास कहकर टाल देना नहीं चाहिए। इनमें उच्चकोटि की कला है, जो कि प्रचार को केवल स्वादु नहीं सहजग्राह्य बना देती है। उन उपन्यास-कला के सफल अधिकारियों से हमें बहुत कुछ सीखना चाहिए। टेक्निकल अपने आसपास के प्रति सजग जागरूकता, यथार्थवाद, सोद्देश्य रचना को कला-शून्यता से बचाना। क्या आज हमारे जीवन में कम प्रश्न हैं? जमींदार-कृषकों की समस्या रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में पृ० ६४३ पर बताई ही है, परन्तु साम्प्रदायिक समस्या, अछूतों के मानसिक विकास का प्रश्न, स्त्रियों के समानाधिकार का प्रश्न, शिक्षा और सैनिक का प्रश्न, राजनैतिक कार्यकर्त्ताओं की रोजी का प्रश्न, मनुकालोरी और विदेशी पूंजीवादी के आश्रय में चलने वाले स्वदेशी पूंजीवाद का प्रश्न एक-दो नहीं ऐसे अनेकों समस्याएँ हैं जो कि हमारे नित्य-जीवन को परेशान करती हैं, उन्होंने गतिरोध सब दिशाओं में उत्पन्न कर दिये हैं। इस युग का प्रधान साहित्यिक माध्यम उपन्यास है। हमारे लेखकों को चाहिए कि वे पाठकों के मन की भूख को समझें। इन सब प्रश्नों पर, एक कलाकार की सहानुभूति से उपन्यास दें। उपन्यास—और—और उपन्यास यह बढ़ते हुए युग की माँग है। ऐसी स्थिति में क्या हिन्दी लेखक उन्हें केवल अनुवाद देगा—या फिर सस्ती, रोमांस पर आश्रित, जासूसी किस्म की लम्बी कहानियाँ? मेरे इस लेख से यदि हमारे लेखकगण अपना आलस्य छोड़कर कुछ सक्रिय हो उठें, तो हिन्दी-संसार को इस बात की खुशा होगी।

## कहानी-कला

### कहानी कैसे बढ़ी ?

लाक़्ज़ात्ता में आधुनिक कहानी के बीज निहित हैं। श्रम-परिहारार्थ, मनोरंजनार्थ, उत्सव आदि प्रसंगों पर मनोविनोदार्थ आख्यायिकाओं का प्रश्रय लिया जाता रहा है। आरम्भ में इन कहानियों में चमत्कार का अंश विशेष था। बाद में वे नीति और उपदेश के दृष्टान्त बन गईं। फिर भी मध्ययुग तक उनमें अस्वाभाविकता की मात्रा अत्यधिक थी। कहानी का आरम्भ कैसे हुआ और भारतीय तथा विदेशी साहित्य में उनका विकास कैसे हुआ, इस विषय में हिन्दी के तीन प्रसिद्ध कहानीकारों तथा दो आलोचकों के मत सुनिये—

१. “कहानियों का जन्म तो उसी समय से हुआ, जब आदमी ने बोलना सीखा, लेकिन प्राचीन कथा-साहित्य का हमें जो कुछ ज्ञान है, वह ‘कथा-सरित्सागर,’ ‘ईसप की कहानियाँ’ और ‘अलिफ़-लैला’ आदि पुस्तकों से हुआ है। यह उस समय के साहित्य के उज्ज्वल रत्न हैं। उनका मुख्य लक्षण उनका कथा-वैचित्र्य था। मानव-हृदय को वैचित्र्य से सदैव प्रेम रहा है। अनोखी घटनाओं और प्रसंगों को सुनकर हम अपने बाप-दादों की भाँति ही आज भी प्रसन्न होते हैं। हमारा ख्याल है कि जन-रुचि जितनी आसानी से अलिफ़-लैला की कथाओं का आनन्द उठाती है उतनी आसानी से नवीन उपन्यासों का आनन्द नहीं उठा सकती और अगर काउण्ट टाल्स्टाय के कथनानुसार जनप्रियता ही कला का आदर्श मान लिया जाय तो अलिफ़-लैला के सामने स्वयं टाल्स्टाय के ‘वार एण्ड पीस’ की कोई गिनती नहीं।” —प्रेमचन्द

२. “कहानी का जन्म मानव-सृष्टि के साथ-ही-साथ हुआ है। आदम और हौवा का जो प्रथम संयोग था, उसकी भी एक कहानी है। एक प्रकार से वही कहानी सृष्टि की समस्त कहानियों की मूल प्रेरणा है। प्रायः कहानी का मूलधार कुतूहल में रहता है। ‘कहानी का उद्गम वास्तव में वृत्तवर्णन में है। चिर-वियोग के बाद जब दो मित्र आपस में मिलते हैं तो प्रायः एक दूसरे से कहते हैं—‘अपना, हालचाल कह जाओ।’... बहुत सम्भव है कि प्रारम्भिक कहानी का उद्गम वेदना से हुआ हो। कहानी के मूल रूप हमें संसार के समस्त आदि-ग्रंथों में मिलते हैं। ऋग्वेद की ऋचाओं में यज्ञ-तर्तन अनेक कहानियाँ मिलती हैं। प्रायः उनका रूप कथनोपकथन-प्रधान हुआ करता था। हर एक धर्म के मूलग्रंथ कथामूलक हैं। जब हम महाकाव्यों पर दृष्टिपात

करते हैं तो उनमें भी हम कथा-साहित्य की विशेषता पाते हैं। क्रम-विकास की दृष्टि से देखा जाय तो कहानी की तीसरी पीढ़ी उपदेशपूर्ण छोटी छोटी कहानियाँ हैं। इसी कोटि में ईसप की कहानियाँ, पंचतन्त्र और हितोपदेश आते हैं....”

—भगवतीप्रसाद वाजपेयी

३. “प्राचीन युग में सबसे प्रथम भारतीय साहित्य के ऋग्वेद, उपनिषद्, सांख्य, पंचतन्त्र, नन्दीसूत्र और जातकों में कथा-साहित्य का अनूठा संग्रह मिलता है। न्याय और दर्शन के गूढ़ सिद्धान्तों को समझाने के लिए इन सिद्धान्तों और उपाख्यानो का उपयोग होता था। विचारों की दृष्टि से इनमें की कुछ कहानियाँ आज भी विश्व-कथा-साहित्य में बेजोड़ ठहरती हैं। रचना-संगठन की दृष्टि से इनमें और आधुनिक कहानियों में विशेष अन्तर है। आख्यानों को न तो उपन्यासों की श्रेणी में रख सकते हैं, न कहानियों की। वे एक अलग कोटि के हैं। प्रायः एक आख्यान के अन्तर्गत कई उपकथाएँ चलती हैं।...ईसा की चार शताब्दी पूर्व हेरोडोटस ने अपनी पुस्तक में अपने से १०७ वर्ष पूर्व के कहानीकार ईसप का उल्लेख किया है। लैटिन भाषा की सबसे पहली कथा जो गोल्डन ऐस’ के नाम से अंग्रेजी में अनूदित हुई, सम्भवतः मौलिक नहीं, वह ग्रीक कथाकार ‘ऐप्पूलियस’ रचित है। ग्यारहवीं शताब्दी में ‘कथा-सरित्सागर’ की रचना हुई। इसके पहले ‘बृहत्कथा मंजरी’ प्रकाशित हो चुकी थी। हितोपदेश की रचना चौदहवीं सदी के पूर्व ही हुई, यह निश्चित है।...कुछ लोगों का मत है कि मध्य एशिया की सब जातियों के कथा-साहित्य पर भारत की प्राचीन आख्यायिकाओं को छाप स्पष्ट है। कुछ विद्वान् फारसी की सिन्दबादी जहाजी की कथा की मूल भित्ति ‘बिन्दक जातक-कथा’ मानते हैं।” —विनोदशंकर व्यास

और दो मत कहानी के विकासेतिहास पर सुनिए

“पाँचवीं शताब्दी में आचार्य बुद्धघोष लिखते हैं—‘अबखानं ति भारत रामायणादि।’ घट जातक एक प्रकार से छोटा-मोटा भागवत ही है।...ईसा की प्रथम शताब्दी में आन्ध्र राजाओं के समय गुणाढ्य नाम के किसी पण्डित ने पेशाची भाषा में बृहत्कथा नाम का ग्रन्थ लिखा था। पेशाची भाषा या तो आधुनिक दरदी की पूर्वज भाषा थी या उज्जैन के पास की एक बोली। (‘भारत-भूमि और उसके निवासी,’ पृ० २४६—जयचन्द्र विद्यालंकार)। यह गुणाढ्य कौन थे, कहना कठिन है। इनकी ‘बृहत्कथा’ एकदम अप्राप्य है। अब तक किसी के देखने में नहीं आई। इससे नहीं कहा जा सकता कि यह बृहत्कथा कितनी बृहत् थी और उसमें क्या-क्या था?... सोमदेव ने, जो कि एक बौद्ध था, अपना कथा-सरित्सागर ‘बृहत्कथा’ से ही सामग्री लेकर लिखा। बौद्ध-कथाएँ जहाँ जन्म-साहित्य हैं और उनका उद्देश्य जनसाधारण का शिक्षण रहा है, वहाँ पंचतन्त्र के ब्राह्मण रचयिता ने जून कथाओं का उपयोग

उपन्यास, गद्यकाव्य, रूपक-कथा, लघु निबन्ध, किञ्च, रिपोर्ताज से उसका अन्तर स्पष्ट करें। इसी विश्लेषण में से कहानी के टेकनीक और प्रकार के सिद्धान्त-सूत्र आगे मिलेंगे।

१. “कहानी में नाम और तारीख के अतिरिक्त सब सत्य होता है और इतिहास में नाम और तारीख के सिवा सब असत्य; ‘आदमी को कुत्ते ने काटा, यह घटना हुई; आदमी ने कुत्ते को काटा, यह कहानी बन गई;’ या ‘एक राजा था और उसकी एक रानी थी’, यह कोई कहानी नहीं बनी; परन्तु ‘एक राजा था और उसकी दो रानियाँ थीं; या एक रानी थी उसके दो राजा थे’—” यह कहानी का, आरम्भ हुआ।

२. “कहानी एक प्रकार का वर्णनात्मक गद्य है जिसे पढ़ने में आध घंटे से लेकर एक घंटे तक का समय लगता है। अर्थात् एक बैठक में जो सामान्य रूप से पढ़ी जा सके, वही कहानी है।’ (एडगर एलेन पो) ‘तीन सौ से तीन हजार शब्दों का वह मनोरंजक गद्य जिसे पढ़ने में १५ से ५० मिनट लगें और पढ़ते समय पाठक ऊबे नहीं और एक ही बैठक में पूरा पढ़ लेना चाहे, कहानी है।’ —एच० जी० वेल्स

३. “प्रत्येक वस्तु में कोई-न-कोई कथानक निहित है, अनन्वेषित है, जिसे हमारी आँखें हमसे पहले लोग क्या विचार कर गये हैं इसी चिन्ता में उलझी रहने के कारण, हम देख नहीं पाते। छोटी-से-छोटी, क्षुद्र-से-क्षुद्र वस्तु में कुछ अज्ञात तत्त्व हैं, उसे खोज निकालो।” —गाय द मोपासां

४. “जहाँ तक मैं जानता हूँ, कहानी लिखने के तीन ही तरीके हैं—एक कथानक ले लो, और उसमें पात्र जमा दो; या एक पात्र ले लो, और उसके लिए घटनाएँ निर्मित करो; या फिर, एक विशेष वातावरण ले लो और उसके अनुरूप घटनाएँ और पात्र निर्माण करो।” —ग्रैहम बैलफोर

५. “जो कुछ मनष्य करे, वही कहानी है।” —ह्यूवाकर

“मेरा प्रधान उद्देश्य एक मनोरंजक घटना-क्रम वर्णित करना है, जिससे मैं पहले शब्द से आखिरी शब्द तक पाठक का ध्यान अपनी ओर खींचे रखूँ। जो व्यक्ति सुगठित, सुनिश्चित नाट्यात्मक अंतवाली घटनावाली नहीं लिख सकता, वह अपने आपको क्यों व्यर्थ कहानीकार या उपन्यासकार कहे ?” —गिल्बर्ट फ्रेकल्यू

६. “मुझे अपनी स्वयं की कहानियाँ सब से अच्छी लगती हैं, जब तक कि वे लिखी नहीं जाती।” —वानर मारिस

७. “अपनी कहानी में मैं कोई-न-कोई मनोवैज्ञानिक समस्या अवश्य रखना चाहता हूँ।” —प्रेमचन्द

८. “आधुनिक कथा वहाँ शुरू होती है जहाँ घटना सड़क से आत्मा के भीतर प्रवेश करती है।” —एडिथ वार्टन

६. “कहानी का विषय होता है एक प्रकाशित करने वाला तथा स्वयं-प्रकाशी क्षण, चाहे वह सौन्दर्य-भरा हो, चाहे अय-भरा, चाहे विस्मय-भरा !” —बुलेट

१०. “कहानी के दो ही प्रकार होते हैं—एक जिसमें प्रधान नायक से कोई हेतु सिद्ध कराया जाता है; दूसरा, जिसमें प्रधान नायक स्वयं कोई निश्चय या चुनाव करता है ।” —जॉन गलिश

इसी प्रकार जे० बी० एसेनवाहन के शब्दों में कहानी में प्रभाव की एकता, श्रेष्ठ कथानक, एक प्रधान पात्र, एक समस्या और उसका समाधान अथवा समाधान की दिशा में इंगित रहता है । सुन्दर कथानक के लिए घटनाओं का तारतम्य या प्रवाह आवश्यक होता है और उनमें भी तीव्र स्थिति, तनाव, संभाव्यता, स्वाभाविकता, नाटकीयता, कुतूहल और सूक्ष्म, द्विधीभाव (सस्पेन्स) आदि तत्त्वों का उत्तम गुम्फन आवश्यक होता है ।

आइए, अब देखें कि यह जो आधुनिक छोटी कहानी दंत-कथा, परी-कथा, नीति-कथा, साहस-कथा, प्रेमसाधन आदि मजिलें पार कर हमारे सामने है वह उपन्यास से किस प्रकार भिन्न है । कहानी और उपन्यास में केवल लघुता-दीर्घता, आकार या मात्रा का अन्तर नहीं, परन्तु प्रकार का अन्तर है । बड़ी कहानी न उपन्यास बन सकती है; न लघु उपन्यास एक कहानी ही । कहानी और उपन्यास का अन्तर एक प्रकार से गीतिकाव्य और महाकाव्य के अन्तर के समान है । कहानी जीवन के खंड या अंशमात्र को प्रस्तुत करती है; उपन्यास जीवन की समग्रता को । कहानी उछलता-कूदता हुआ वन्य निर्भर है; उपन्यास गम्भीर कूलहीन समुद्र । कहानी एक दिन ही में मुरझा जानेवाली लिली की कली है; उपन्यास विशाल, युगों-युगों तक स्तब्ध मौन, तना खड़ा देवदारु । कहानी-लेखक जैसे द्रुत रेखाचित्र या ‘स्नैप’ मात्र लेता है; उपन्यास बृहद् भित्तिचित्र (फ्रेस्को) के समान है । कहानीकार भीड़ को अपनी छोटी-सी खिड़की में से या सराय के एक कोने से देख लेता पर्याप्त समझता है; उपन्यास-लेखक एक ऊँची मीनार पर बैठकर जैसे आसपास का विस्तृत भू-प्रदेश देखता है । बैरी पेन ने ठीक ही कहा है कि उपन्यास पढ़ना भरपेट भोजन से पूरा सन्तोष पाना है; कहानी सिर्फ भूख को लहकाना या उकसाना मात्र है । आज की कहानी और उपन्यास दोनों ही मनोवैज्ञानिक बनते जा रहे हैं—लेखक को पाठक के, पात्रों के, उपन्यासगत समाज के मन का ध्यान रखना पड़ता है । इस दृष्टि से अच्छी यथार्थवादी कहानी लिखना हँसी-खेल नहीं, टेढ़ी खीर है । वैसे तो जीवन स्वयं एक अनाद्यन्त आख्यायिका है ।

कहानी बहुत कुछ एकांकी नाटक के समान होती है । प्रभाव की एकाग्रता, जीवन का आंशिक क्षण-चित्रण, संवाद की स्वाभाविकता, घटनाओं की नाटकीयता आदि दोनों में एक-सी आवश्यक वस्तुएँ हैं । यदि शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय की षोडशी

नाटिका को आप पढ़ें जो कि उन्होंने अपने छोटे उपन्यास से स्वयं लिखी; या प्रेमचंद की कहानी 'कफन' का रशीदजहाँ-द्वारा गाँव के थियेटर के काम का दिया गया नाट्य-रूप या इसी प्रकार के कई गाल्सबर्दी और चेखोव के कहानियों के एकांकीकरण तो पता चलेगा कि दोनों साहित्य-रूपों में, सिवा कुछ वर्णनों के, जो कि कहानी में अधिक होते हैं, बहुत कम अंतर रहता है। दोनों ही साहित्य-प्रकार आधुनिक अंग्रेजी साहित्य से हिन्दी में आए और उसी में के विचार-प्रवाहों, समस्याओं द्वारा अधिक प्रभावित हैं। कहानी और एकांकी में यदि कोई अंतर है तो इतना ही कि दृश्यों का जितना परिवर्तन कहानी में सम्भव है, एकांकी में नहीं। एक पात्र कहानी में बैठे-बैठे अपने गत जीवन के खट्टे-मीठे अनुभवों की चित्रपटो खोलकर देख सकता है; एकांकी में वैसा एकान्त आत्म-संशोधन सम्भव नहीं; बल्कि एकांकी का आधार ही किसी-न-किसी प्रकार का कार्य (एक्शन) है।

कहानी और गद्य-काव्य में बहुत बड़ा भेद न च न्ह पाने के कारण भाव-चित्र वा भाव-कहानी या रूपक कथा नामक एक और प्रकार चल पड़ा है। तुर्गनेव के (डोम्स) सपने; रवीन्द्रनाथ के 'पयूजिटिव' में कई गीत, बि० स० खांडेकर के 'कलिका', 'मंजरी' और 'सुवर्णकरण' धूमकेतु की छोटी-छोटी गुजराती बिन्दु-कहानियाँ, सोलोखोफ़ की कुछ ऐसा कथाएँ, रायकृष्णदास, शान्तिप्रसाद वर्मा, राजकुमार रघुवीरसिंह और प्रकाशचन्द्र गुप्त के कुछ गद्य काव्यात्मक रेखाचित्र इसी कोटि में आते हैं। उनमें कुछ तो निश्चित भाव-गीत या 'वैणिक' या उभिकाव्य (ज़िरिक) होते हैं; अन्य कुछ होती हैं प्रतीकात्मक छोटी कहानियाँ। उदाहरणार्थ खलील जिब्रान के 'दी प्राफ़्ट' (जीवन-संदेश), 'मडमैन', 'सेंड एण्ड फ़्रोम', आदि पुस्तकों में कई छोटे-छोटे गद्य-गीतों में गीतात्मक कथाएँ इसी के अन्तर्गत आ जायँगी। यदि वे छन्दोबद्ध और पद्यात्मक होतीं तो खंडकाव्य या आख्यानकाव्य कहलातीं—जैसे सियारामशरण जी गुप्त के 'पाथेय' या 'आर्द्रा' की कहानियाँ। सिनेमा में रूसी दिग्दर्शक अग्रइजेन्स्टाइन ने 'मौटाज' (स्थिर-चित्र) नामक शैली, प्राकृतिक या पार्श्वभूमि के संकेत द्वारा किसी घटना को व्यक्त करने के लिए जैसे प्रचलित की, साहित्य में रूपक-कथा भी बहुत अधिक लोकप्रिय हो रही है।

परंतु रूपक-कथा में और हलके निबन्ध या व्यक्तिगत निबन्ध में अन्तर है। ए० जी० गार्डिनर उर्फ 'अल्फा ऑफ़ दी प्लाऊ' के 'फ़्रेलो-ट्रेवलर' में मच्छर के प्रति रेलप्रवासी के मनोभाव कहानी नहीं कहे जा सकते; या प्रेमचंद की 'कफन' में प्रकाशित 'काश्मीर-सेव' भी कहानी नहीं मानी जा सकती। प्रो० ना० सी० फडके ने मराठी में इस प्रकार के लघु निबन्धों को 'गुजगोष्ठी' (बतकही, सुखदुःख निवेदन या परस्पर-संस्लाप) कहा है। दोनों में विपुल कल्पनाशक्ति; आरम्भ और अन्त की

कुशनापूर्वक रचना; लघुता; स्वाभाविकता; साधारण विचारपद्धति से भिन्न दृष्टिकोण और विविधता आवश्यक हैं—फिर भी दोनों में मौलिक अन्तर है। निबन्धकार एक विचारक होता है; कहानीकार कलाकार। निबन्ध में चिन्ता प्रधान है तो कथा में रस।

इधर पंत जी की 'पाँच कहानियाँ'; महादेवी वर्मा के 'अतीत के चलचित्र'; सुभद्राकुमारी के सीधे सादे चित्र' आदि व्यक्ति-चित्रों की रचनाओं से हिन्दी में कहानी और स्केच या शब्दचित्र पर्यायवाची माने जाने लगे हैं। असल में रवीन्द्रनाथ ठाकुर की प्रसिद्ध कहानी 'काबुलीवाला' या 'सुधा'; शरच्चन्द्र की 'हरिचरण'; प्रसाद की 'मधुआ' या 'बँड़ी'; भगवतीचरण वर्मा की 'एक चक्कर है'; जनेन्द्रकुमार की 'रुकिया बुढ़िया' या 'मास्टर जी' कहानियों से अधिक स्केच। इसका कारण यह है कि घटना की अपेक्षा व्यक्तित्व के एक कोण-विशेष को अथवा एक चामत्कारिक या असामान्य व्यक्तित्व को प्रस्तुत करना उनका प्रधान उद्देश्य रहता है। इस प्रकार के सुन्दर व्यक्ति-चित्र मराठी में श्री घटि ने 'कुछ बूढ़े और एक बुढ़िया' नामक किताब में लिखे हैं। हिन्दी में श्रीराम शर्मा, बनारसीदास चतुर्वेदी, भदन्त आनन्द कौसल्यायन आदि ने ऐसे शैलीपूर्ण व्यक्ति-चित्र लिखने में विशेषता प्राप्त की है।

व्यक्ति-चित्र की भाँति घटनाओं के विवरण, प्रवास या किसी बड़ी दुर्घटना—युद्ध, भूचाल, अकाल आदि के मनोरंजक दृष्टिकोण या प्रचार की दृष्टि से लिखे जानेवाले व्यंग्यपूर्ण प्रसंग-चित्र—जिन्हें फ्रेंच 'रिपोर्ताज' से पुकारा जाता है, कहानीगुमा होते हुए भी कहानी नहीं। अज्ञेय का 'त्रिपुरी कांग्रेस' पर लेख; रांगेय राघव के बंगाल के अकाल पर 'तूफानों के बीच'; अमृतलाल नागर की 'आदमी नहीं-नहीं'; इल्मा ए-हेनबर्ग या वासिली ग्रासमन जैसे रूसी उपन्यास-लेखकों के युद्ध के लाभ पर के वर्णन आदि; या आधुनिक उर्दू कहानी में कृष्णचन्द्र आदि द्वारा बहुत प्रयुक्त होने वाली शैली (हम वहशी है!) इसी प्रकार की हैं। इसमें कहानी के तत्त्व अवश्य हैं, परन्तु जैसे फोटोग्राफी की कला का पोस्टर के लिए उपयोग हो; वैसे रिपोर्ताज कहानी का एक विशेष प्रकार का प्रचारात्मक प्रयोग है।

कहानी किस तरह और कितनी तरह की ?

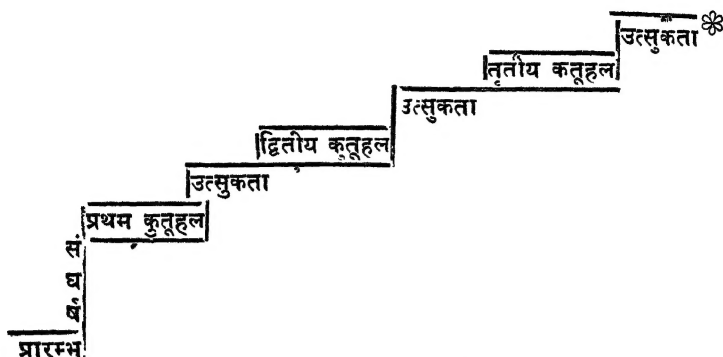
कहानी की मर्यादा निश्चित करने पर अगला प्रश्न कहानी के कला-पक्ष अथवा 'टेक्नीक' का है। (टेक्नीक के लिए उपयुक्त हिन्दी शब्द अभी चला नहीं; वैसे कई व्यक्ति 'तन्त्र', 'शैली', 'निवेदनपद्धति' आदि प्रयुक्त करते हैं।) कहानी के आवश्यक तत्त्व निम्न माने गये हैं।

(१) कहानी छोटी हो। (२) एक ही भावना का उसमें उद्रेक हो। (३) कहानी लिखने में जितनी आवश्यकता स्मृति की है, उतनी ही विस्मृति की भी है;

यानी कहानी में चुनाव बहुत जरूरी चीज है। (४) कथानक, वृत्त या वस्तु—पात्रों द्वारा किए जाते वाले कार्य या घटनाएँ (५) ऐसी घटनाएँ जिन पर घटित होती हैं, वे पात्र और उनका चरित्र-चित्रण (६) कथोपकथन या संवाद (७) जिस रीति से कथानक विकसित होता है, वह रचना-क्रम (८) भाषा-शैली; वर्णन या वातावरण-निर्माण तथा उन पर लेखक के विचार (९) शीर्षक; आरम्भ और अन्त (१०) कहानी का समग्र प्रभाव और मूल हेतु, उद्देश्य या आदर्श का निर्वाह। यदि इन बातों में से एक-एक को लेकर विस्तार से लिखें तो कहानी-कला पर एक स्वतन्त्र ग्रंथ ही बन जाय। यहाँ पर संक्षेप में इनके संतुलन पर ही विचार दिए जा सकेंगे। एक अंग्रेजी समालोचक के मतानुसार कहानी में प्रधान वस्तु और कथानक ४५ प्रतिशत तथा रचना-सौष्ठव २० प्रतिशत महत्त्व रखता है। चरित्र-चित्रण, कथोपकथन तथा शैली क्रमशः १५, १५ तथा ५ प्रतिशत महत्त्वपूर्ण हैं। इस प्रकार गुण-विभाजन तो अच्छी कहानी में संभव नहीं; परन्तु दो-चार शब्द कहानी के मूलधार कथानक, चरित्र, वातावरण तथा रचना-शैली पर गुण-दोष-विवेचनरूप सक्षेप में कहना आवश्यक है।

कथानक में प्रवाह, घटनाओं का तारतम्य, कथानक के अंगों का परस्पर-संगठन आवश्यक होता है। कथानक के मुख्य अंग हैं प्रस्तावित अंश, समस्या का आरम्भ, क्लाइमेक्स या चरम-बिंदु, अंत जो कि समस्या का सुलझन भी हो सकता है अथवा सुलझन के अनेक संभावनाओं में से एक उचितमात्र। कथानक बहुत लम्बा-चौड़ा भी आवश्यक नहीं, और न कोई कथानक-विहीन कहानी ही अच्छी कहानी कहलाती है। प्रेमचंद की 'रानी सारन्धा' या प्रसद की 'आँधी', शरच्चन्द्र की 'कादम्बिनी', 'स्वामी' या जेनेन्द्र की 'एक रात', हार्डी के वेसेक्स टेंस की पहली कहानी या एण्टन चेखोव की 'चुम्बन' कहानी काफी लम्बी हैं; इसमें उलटे ओ', हेनरी या लुइजी पिरंदेलो या जेनेन्द्रकुमार की कई छोटी कहानियाँ स्पष्टतः कथानकविहीन कही जा सकती हैं। अतः कथानक की दीर्घता या लघुता के सम्बन्ध में कोई निर्णय देना असम्भव है; परन्तु उसमें आरम्भ अत्यन्त आकर्षक, कुतूहलोत्पादक, मूल कथा से जुड़ा हुआ, कहानी के उद्देश्य का सांकेतिक दर्शन करानेवाला, एक प्रकार से सम्पूर्ण कहानी का प्रेममय प्रथम परिचय होना चाहिए। श्री रामकुमार वर्मा ने कहानी में कुतूहल-विकास का एक मानचित्र सा अपने साहित्य-समालोचन में पृ० ५७ पर दिया है, जो कि 'रेशमी-टाई' की भूमिका में एकांकी के निर्वाह के सम्बन्ध में दिये मानचित्र से बहुत मिलता-जुलता है—





परन्तु इस प्रकार मानचित्र बनाकर किसी भी कला-रचना का नियमन नहीं किया जा सकता। यह केवल एक आधारमात्र है। वैसे प्रत्येक कहानी का नक्शा एक दूसरे से भिन्न प्रकार का होगा। कथानक चार प्रकार का कहा गया है—घटनाप्रधान, चरित्रप्रधान, वर्णनात्मक, भावप्रधान। कथानक के अन्त में कोई-न-कोई अनपेक्षित विचित्रता रखना एक और महत्वपूर्ण बात है। पाठक एक प्रकार का अन्त मन में सोचता है, जब कि लेखक दूसरा कोई प्रकार का बतलाता है। यह चामत्कारिता कथानक में अतिरिक्त रसोत्पत्ति करती है। कहानी के कथानक के विकास की उपमा जादूगर-द्वारा एक रिवत पात्र या हैट में बहुत से रूमाल निकालने से दी जाती है। फ्लाबेयर नामक क्रॉच कथा-लेखक ने एक उत्तम सूत्र दिया है; जो हमारे ब्रह्मसूत्रों के 'पटवच्च' के समान है। वह कहता है 'ईय फॉर् इन्तरेस्तेर' (मैं इस प्रकार कहानी खोलता हूँ, लपेटे हुए सूत्र सुलझाता हूँ।)

पात्रों के सम्बन्ध में पहली बात जो कही जा सकती है, वह यह कि वे जीवित हों, सप्रमाण हों। उनमें कहीं यह ध्वनि इंगित न हों कि ये तो कठपुतले हैं; लेखक की इच्छा से चलनेवाले यांत्रिक खिलौने हैं। अतः पात्रों को गढ़ने, काटकर तैयार करने, खोदने, तार को जोड़ने, चलाने-बुलवाने की बात गलत है। क्रिया कर्ता से अविच्छिन्न है; घटना पात्रों से। ई० एम० फास्टर ने अपने 'उपन्यास के पल्लू ग्रंथ' में समतल (फ्लैट) और वर्तुल (राउंड) दो प्रकार के चरित्रों की बात कही है। पात्र अतीन्द्रिय या हवाई न होने चाहिए। उनमें वस्तु-वृत्ति (मंटीरीयलाइजेशन) होनी चाहिए। उनमें चुम्बकीय गुण रहना चाहिए। मार्सेल प्रूस्त ने उसे प्राकृतिक गुणसमुच्चय कहा है। कहानी में चूँकि समय और स्थान सीमित होता है चरित्र के व्यक्तित्व का एक विशेष अंग हा उसमें झलकता है; उपहैम ने जो बात कही है वह महत्वपूर्ण है—'चरित्र-चित्रण में सदा इस बात का भय बना रहता है कि वे

व्यंग्यचित्र न बन जायें; जैसे कि घटनाक्रम सम्भावनीयता की सीमा लाँघकर पाठक के धैर्य की परीक्षा ले ले।' सजीव चरित्र उपस्थित करने के लिए छोटी-छोटी घटनाओं का चुनाव आवश्यक है, जिसके द्वारा चरित्रिक विशेषताएँ स्पष्ट हो सकें ! उदाहरणार्थ पात्र का नाम, बाह्यरूप, मुखाकृति, वय, बर्ताव, पतृक गुण-दोष, परम्परागत प्रथाओं का उसके मन पर प्रभाव, शिक्षा-दीक्षा, वार्तालाप की विशेषताएँ, दिनचर्या, जीवन-घटनाएँ आदि-आदि बातों के विवरण से पात्र में प्राण फूँके जा सकते हैं। चरित्र-चित्रण के सत्य प्रत्येक रेखा का भूत होता है; कहीं भी अनावश्यक मात्रा में रेखाओं का आधिक्य घातक सिद्ध होता है। चरित्रों के उपस्थित करने के वर्णन, संकेत, वार्तालाप घटना, पत्र, डायरी, स्मृति आदि कई प्रकार हैं। लेखक चरित्रों के चित्रण में स्वयं प्रवेश करे या हस्ताक्षेप करे अथवा नहीं, इस सम्बन्ध में दो मत हैं। पुराने लेखक अक्सर चरित्रों से बाहर रहकर बीच-बीच में अपने मतव्य भी देते जाते थे। आधुनिक लेखक चरित्र से घुलमिल जाता है; चरित्रों से ऊपर अपनी विशेष सत्ता नहीं मानता।

कहानी की तीसरी आवश्यक वस्तु है वातावरण-निर्माण। आखिर 'त्रिया या कर्ता, घटना या चरित्र किसी विशिष्ट देश-काल-परिस्थिति की पार्श्वभूमि में ही रहते हैं। किसी पार्थिव आकाश-बीतास में ही साँस लेते हैं। उनका प्रभाव चरित्र या घटना पर अवश्य चेतन-अवचेतन रूप से पड़ता ही है। ऐतिहासिक कहानियों के लिखते समय इस बात का ध्यान विशेष रूप से रखना पड़ता है। मुझे हिन्दी के एक प्रसिद्ध कहानी-लेखक 'अज्ञेय' बतला रहे थे कि 'अंकोरा के पथ पर' और 'कैसेड़ा का अभिशाप' ('कोठरी की बात' में प्रकाशित) जैसे विदेशी वातावरणवाली कहानियाँ लिखने से पहले कई सहीनों तक जेल में वे उन-उन देशों की सभ्यता, भूगोल, फूल-पत्ती आदि का कैसे अध्ययन करते रहे। मैंने गत विश्वव्यापी युद्ध पर कुछ कहानी जैसे शब्दचित्र लिखे ('संगीनों का साया' नाम से प्रकाशित)—उसके लिए भी मुझे काफी खोज, छान-बीन करनी पड़ी। तालस्ताय यदि कज्जाकों के बीच में सिपाही के नाते न रहता तो सम्भव नहीं था कि वह इतने उत्तम चित्र 'सेवास्तोपोस की कहानियाँ' में दे पाता; या गोर्की के जीवनानुभव की विविधता (उसकी डायरी में वर्णित) उसकी 'आदम नाइट' या 'ट्वेंटी-सिक्स एंड वन' जैसी कहानियों में अतिरिक्त बल, कड़ौस और तिव्रता प्रदान करती है। राहुल सांकृत्यायन ने अपने 'सतमी के बच्चे' में ऐसे ही निम्न-वर्ग के चित्र उपस्थित किये हैं। रवीन्द्र और शरच्चन्द्र की कहानियों में जो बंग-संस्कृति की, विशेषतः पल्लीसमाज की, ग्रामीण वातावरण की